हिन्दी-कविता का विकास

पहला भाग

लेखक
आनन्दकुमार

प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर
प्रयाग

प्रथम संस्करण] अक्तूबर, १९४० [मूल्य २)

प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर,
प्रयाग

पहला संस्करण
मूल्य २)

मुद्रक
हिन्दी-मन्दिर प्रेस,
इलाहाबाद

बसन्त-निवास,
सुलतानपुर
२१—१२—'३६

'हिन्दी-कविता का विकास' हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में इस तरह का पहला ग्रंथ है। इस एक ही ग्रन्थ की सहायता से पाठक हिन्दी-कविता का वास्तविक रूप देख सकेंगे और उसके विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। सोलह छोटे-छोटे निबन्धों के द्वारा मैंने हिन्दी-कविता का स्वरूप पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है। सबको लिखते समय मैंने इस बात को हमेशा ध्यान में रक्खा है कि उनको पढ़ने से पाठकों को भिन्न-भिन्न दिशाओं में होनेवाले हिन्दी-कविता के विकास का ज्ञान भी सहज ही में होजाय। इन निबन्धों को मैंने ऐतिहासिक शैली में नहीं, बल्कि साहित्यिक शैली में लिखा है।

इस पुस्तक के लेख आलोचनात्मक भी हैं और परिचयात्मक भी। इसलिये उनमें कहीं-कहीं उदाहरणों की अधिकता देखने को मिलेगी। किसी को यह न समझना चाहिये कि मैंने जानबूझकर इस उद्देश्य से अधिक उदाहरण भर दिये हैं कि उनकी वजह से पुस्तक ख़ूब मोटी होजाय। पुस्तक को मोटी बनाना तो मुझे यों भी नहीं पसन्द है। पुस्तक और कमर—ये दो चीज़ें हमेशा पतली ही अच्छी लगती हैं। मैंने कम-से-कम उदाहरण देने की कोशिश की है। इससे भी कम उदाहरण रक्खे जाते तो कविता

का ठीक-ठीक रसास्वादन नहीं कराया जासकता था। यथा-संभव मैंने इसतरह का निर्देश कम किया है कि विरह-वर्णन अमुक ग्रंथ में देख लो और प्रकृत-वर्णन अमुक ग्रंथ में। ग्रंथों की विषयवार सूची तो किसी पुस्तक-प्रकाशक से भी मिल सकती है।

इस पुस्तक के निबन्धों को पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखना ज़रूरी है कि लेखक के पास स्थान की कमी है। जिन विषयों पर इस पुस्तक में एक-एक निबन्ध लिखे गये हैं, उनपर एक-एक ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। हिन्दी-कविता की विशालता का दिग्दर्शन कराने के लिये मेरे पास थोड़े ही पृष्ठ थे, इसलिये मेरे लिये ज़्यादा हाथ-पैर फैलाना सम्भव नहीं था। यह तो एक छोटी-सी नौका है जिसमें बैठकर साहित्य-प्रेमी कुछ देर तक साहित्य-सागर में विहार कर सकेंगे।

समाज के वायुमंडल में ही साहित्य की रचना होती है। इसलिये समाज और साहित्य का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होता है। कवि तो एक थर्मामीटर होता है जिससे किसी समय के देश और समाज का बुख़ार जाना जाता है। मैंने इन निबन्धों को लिखते समय इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है कि किस प्रकार के देश और समाज में बैठकर किस प्रकार की रचना हुई है। समाज और साहित्य का सम्बन्ध तोड़ने का प्रयत्न मैंने नहीं किया है। पर कवि को मैंने कवि के रूप में ही देखा है, सामाजिक जीव के रूप में नहीं। किसी कवि के व्यक्तित्व को परखने की चेष्टा मैंने नहीं की है। मुझे उसके कवि-रूप से मतलब था। उसी रूप में मैंने उससे मैत्री स्थापित की है। कवि-रूप में समाज से उसका जो सम्बन्ध था, उसी सम्बन्ध को मैंने देखा और दिखाया है।

इन निबन्धों में मैंने पक्षपात की भावना को दूर रखकर अधिक-से-अधिक स्पष्टवादिता और निर्भीकता से काम लिया है। मौलिकता का भी मैंने आदि से अन्त तक ध्यान रक्खा है। मैंने जिन ग्रंथों और कवियों आदि का उल्लेख किया है उनको स्वयं पहले अच्छी तरह पढ़कर तब बहुत ज़िम्मेदारी के साथ उनपर अपनी राय क़ायम की है। आजकल के बहुसंख्यक हिन्दी-लेखकों की तरह दो-चार ग्रंथों को लेकर उनके गर्भ से एक नई पुस्तक पैदा कर देने का तरीक़ा मैंने नहीं अख़्तियार किया है। जिन लेखकों या कवियों की कृतियों से मैंने कोई सामग्री कहीं ली है, उसका उल्लेख मैंने वहाँपर अवश्य कर दिया है। मैंने किसी की सामग्री नहीं चुराई है। जिसकी स्त्री ख़ुद बच्चे पैदा कर सकती है, उसे किसी को गोद लेने की क्या ज़रूरत है? जिसकी प्रतिभा स्वयं नये-नये विचारों की सृष्टि कर सकती है, वह विचारों के लिये दूसरों के आगे हाथ क्यों फैलायेगा? 'जिस मृग में कस्तूरी उपजाने की शक्ति होती है वह पुष्प के सुगन्ध की परवाह ही क्या करता है!'—

'किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गंधः,
कस्तूरिका-जनन-शक्तिभृता मृगेण।'

—रसगंगाधर

मैं बहुत हर्ष और अभिमान के साथ यह पुस्तक सच्चे हिन्दी-प्रेमियों के पवित्र हाथों में भेंट करता हूँ। मुझे विश्वास है कि वे भी हर्ष और अभिमान के साथ ही इसको स्वीकार करेंगे।

सूची



हिन्दी-कविता का विकास

हिन्दी-साहित्य की रूपरेखा

हिन्दी-कविता की प्रगति को समझने के पहले हिन्दी-साहित्य की प्रगति को ठीक-ठीक समझ लेना बहुत आवश्यक है। इसलिये हम यहाँ पर इस पुस्तक की भूमिका के रूप में हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त परिचय लिख देना भी आवश्यक समझते हैं। समस्त हिन्दी-साहित्य के इतिहास को विद्वानों ने कई कालों में विभाजित किया है। इनमें से पंडित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत किया गया काल-विभाजन ही अधिक प्रामाणिक और अधिक स्पष्ट है। इसलिये, हम उसीको आधार मानकर यहाँपर हिन्दी-साहित्य की रूपरेखा निर्धारित करेंगे। भिन्न-भिन्न कालों में प्रवाहित विचार-धाराओं के विषय में भी हम यहाँपर शुक्लजी के विचारों से थोड़ा-बहुत प्रभावित होकर ही कुछ लिखेंगे।

शुक्लजी के मतानुसार हिन्दी-साहित्य निम्नलिखित चार मुख्य कालों में विभाजित किया जा सकता है।—

१—आदि काल (वीर-गाथा काल, सं० १०५०-१३७५)
२—पूर्व मध्यकाल (भक्ति-काल, सं० १३७५-१७००)
३—उत्तर मध्यकाल (रीति-काल, सं० १७००-१६००)
४—आधुनिक काल (गद्य-काल, सं० १६००———)

वीर-गाथा काल

आदिकाल या वीर-गाथा काल का आरम्भ किसी पुष्य कवि के द्वारा होता है। यह कवि सं० ७०० के आसपास हुआ था और इसने दोहों में कोई अलंकार-विषयक ग्रंथ लिखा था, जो अब उपलब्ध नहीं है। ठाकुर शिवसिंह ने भी अपने 'शिवसिंह-सरोज' में इस कवि का ज़िक्र किया है। लेकिन जबतक इसका लिखा हुआ कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं मिल जाता तबतक इतिहासकार इसे हिन्दी-साहित्य का पिता मानने को तैयार नहीं हैं। इसके बाद 'खुमान रासो' नामक एक काव्य-ग्रंथ का ज़िक्र मिलता है, जिसकी रचना सं० ८६० के आसपास हुई थी। लेकिन यह भी उपलब्ध नहीं है। अतएव पंडित रामचन्द्र शुक्ल के मत से हिन्दी-साहित्य का आदिकाल सं० १०५० से सं० १३७५ तक मानना चाहिये।

आदिकाल में मुख्यतः वीर रस की कवितायें हुई हैं। सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारतवर्ष में चारों तरफ़ छोटे-छोटे राजा हो गये थे, जो एक-दूसरे से लड़ते रहते थे। ऐसी दशा में चारण लोग अपने-अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम की प्रशंसा करके ही सम्मान पा सकते थे। उन्होंने अपने-अपने राजाओं की वीर-गाथायें मुक्तक छन्दों में और प्रबन्ध काव्यों के रूप में लिखीं। चूँकि इन राजाओं की आपसी लड़ाइयाँ मुख्यतः रूपवती राज-

कन्याओं के लिये होती थीं, इसलिये चारणों की रचनाओं में शृङ्गार रस का भी काफ़ी मिश्रण रहता था। यहाँतक कि किसी-किसी ग्रन्थ में वीर रस की अपेक्षा शृङ्गार रस ही अधिक मिलता है। इस काल में निम्नलिखित मुख्य-मुख्य ग्रन्थों की रचना हुई।—

१—ख़ुमान रासो

२—बीसलदेव रासो

३—पृथ्वीराज रासो

४—आल्हा

५—परमाल रासो

६—विजयपाल रासो

इन सब में पृथ्वीराज रासो ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें लगभग २५०० पृष्ठ हैं और ६९ सर्ग हैं। पृथ्वीराज के दरबारी कवि और मित्र चन्दबरदायी ने इसको प्रारम्भ किया था और उसके पुत्र जल्हण ने इसको समाप्त किया। इस पुस्तक में पृथ्वीराज के जीवन की समस्त घटनाओं का अनेक छन्दों में विस्तारपूर्वक वर्णन है। बहुत-से आधुनिक विद्वान् इसकी प्राचीनता पर सन्देह करते हैं। उनके अनुसार यह सोलहवीं-शताब्दी का लिखा हुआ एक जाली ग्रन्थ है। मिश्रबन्धु तो चन्द को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं। हमारी समझ में 'रासो' को जाली ग्रन्थ प्रमाणित करने में विद्वानों ने जो तर्क उपस्थित किये हैं, वे अकाट्य नहीं हैं। 'रासो' निश्चय ही पृथ्वीराज के समकालीन किसी चन्द कवि का लिखा हुआ है। हाँ, बाद में उसकी नक़ल करनेवाले और उसके सम्पादक लोग अपनी तरफ़ से उसमें क्षेपक मिलाते चले गये होंगे, जैसा कि रामचरितमानस के सम्बन्ध में हुआ है। यही कारण है कि रासो को पढ़ते समय पृथ्वीराज के

बाद की कुछ घटनाओं को देखकर और भाषा का नया रूप देखकर विद्वानों को शक होता है कि यह जाली ग्रन्थ है।

आल्हा का भी उत्तरी भारत में काफ़ी प्रचार है। लेकिन जो आल्हा आजकल प्रचलित है, वह असली नहीं है। वास्तव में जगनिक कवि ने इस पुस्तक की रचना की थी। पर अब वह नहीं मिलती।

आदि काल के अवसान-काल में अमीर ख़ुसरो ने उन दिनों की बोलचाल की भाषा में कविता की है। यदि दूरबीन लगाकर देखा जाय तो अमीर ख़ुसरो ही खड़ी-बोली के बाबा आदम के रूप में दिखाई पड़ेंगे। इन्होंने अपने समय की व्यावहारिक भाषा में दोहे, पहेलियाँ, मुकरियाँ, ढकोसले और दो-सखुने आदि लिखे हैं जो आज भी जनता का मनोरंजन करते हैं।

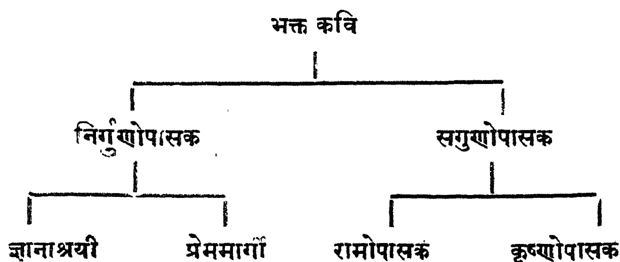
धीरे-धीरे दिल्ली पर मुसलमानों ने अधिकार जमाया। एक केन्द्रित शासन की स्थापना हुई और हिन्दू-राजाओं की लड़ाइयाँ बन्द हो गईं। वे मुसलमानों से लड़ते थे, लेकिन पराजित होजाते थे। पराजितों के लिये वीर-गाथा की रचना क्यों होती? काल-चक्र में पड़कर राजा लोग विलासी और निरुत्साह होगये। चारणों का युग समाप्त हुआ और राजदरबारों में उनका सम्मान भी न रहा।

भक्ति-काल

मुसलमानों के आगमन के साथ-साथ भारतवर्ष में एक नये धर्म का भी आगमन हुआ, जो हिन्दू-धर्म के विपरीत पड़ता था। मुसलमानों ने आते ही हिन्दुओं को काफ़िर कहकर उनके धर्म पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। अब हिन्दुओं का

अपना धर्म बचाने की फ़िक्र हुई। वे तलवार लेकर जीत नहीं सकते थे, इसलिये उन्होंने क़लम का आश्रय लिया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में एक नवीन युग की स्थापना हुई, जिसको भक्ति-काल कहते हैं। भक्त-कवियों ने अपनी रचनाओं-द्वारा समाज को सुव्यवस्थित बनाने की चेष्टा की।

भक्त कवियों की शाखा इस प्रकार फूली-फैली—



निर्गुणोपासना का जन्म मुख्यतः हिन्दुओं और मुसलमानों का पारस्परिक मतभेद मिटाने के लिये हुआ था। कबीर साहब को ही लोग इस मार्ग का मुख्य प्रवर्त्तक मानते हैं। इन्होंने एकेश्वरवाद की ओर संकेत किया और बहुदेववाद की घोर निन्दा की। घट-घट में इन्होंने एक ही स्वामी की व्यापकता का उपदेश किया और भेद-भाव मिटाकर एक राम को जपने का आदेश किया।—

'कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू-तुरक न कोई'

कबीर के बाद अनेक सन्त कवियों ने इसे अपनाया। उनमें धर्मदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास और मलूकदास मुख्य हैं। इन सब की 'बानियों' में ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, संसार की असारता, जाति-प्रथा का निराकरण, आत्म-

बोध और हिन्दू-मुसलमानों की एकता आदि विषयों का ज़ोरों के साथ समर्थन किया गया है। इनका मत था कि—

जाति-पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

हिन्दू-समाज पर इन संतों का बड़ा प्रभाव पड़ा—ख़ासकर अशिक्षित जनता पर। इनके पद गाँव-गाँव तक पहुँच गये और इनके सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। कबीर साहब तो इस समय हिन्दी-साहित्य के संभवतः सबसे अधिक लोक-प्रसिद्ध कवि हैं। उनके पद और उनकी साखियाँ देहाती-से-देहाती आदमी की भी ज़बान पर रक्खी हुई मिलेंगी। अहिन्दी-प्रान्तों में भी कबीर ही का नाम अधिक प्रसिद्ध है। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक इनको श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

कबीर ने हिन्दी-भाषा के साथ भी बड़ा उपकार किया है। हिन्दी-भाषा के ये आदि प्रचारक कहे जा सकते हैं। अपनी रचनायें हिन्दी-भाषा में करके इन्होंने उसके प्रति लोगों में काफ़ी अनुराग उत्पन्न किया।

निर्गुण-धारा दो शाखाओं में विभक्त हुई—(i) ज्ञानाश्रयी शाखा (ii) प्रेममार्गी शाखा।

ज्ञानाश्रयी शाखा में ऊपर लिखे सन्त-कवि आते हैं। इस शाखा के कवियों ने भारतीय ब्रह्मज्ञान से बहुत-कुछ लिया है। इन्होंने सगुणोपासना का खंडन किया है और सिर्फ़ तर्क-वितर्क से काम लिया है। इनकी भाषा मिश्रित है। इन्होंने साहित्य के लिये अपनी रचनायें नहीं की हैं; अतएव उनमें विशेष साहित्यिकता नहीं है।

प्रेममार्गी शाखावाले कवि 'अहं ब्रह्मास्मि' का सिद्धान्त मानते थे। इस शाखा के कवियों ने प्रेम की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये सरस कथाओं का आश्रय लिया है। इनकी रचनाओं में ज्ञानाश्रयी शाखावालों के तर्क-वितर्क की नीरसता नहीं है, बल्कि उसमें हृदय-स्पर्शी प्रेम की सरसता दिखाई गई है। प्रेम के ज़रिये इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में बन्धुत्व का भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की है।

इन कवियों की सभी रचनायें अवधी में हैं। प्रायः सब ने दोहे और चौपाइयों में रचनायें की हैं। इनकी रचनाओं में उच्चकोटि के रहस्यवाद के दर्शन मिलते हैं। ये रचनायें बहुत लोक-प्रसिद्ध तो नहीं हुईं, पर काव्य-रसिकों में इनका अच्छा सम्मान हुआ। प्रेममार्गी-शाखा के सभी कवि सूफ़ी मतावलम्बी मुसलमान थे। उनमें से मुख्य ये हैं—

(१) कुतबन
(२) मंझन
(३) जायसी
(४) उसमान

इनमें जायसी एक प्रमुख कवि है। जायसी ने पद्मावत और अखरावट नामक दो ग्रंथों की रचना की है। पद्मावत की गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ काव्यों में की जाती है। इसकी भाषा विशुद्ध अवधी है।

सगुणोपासक कवि ईश्वर को सगुण मानकर उसकी उपासना करते थे। ये लोग अवतारवादी थे। इनके दो दल तैयार हुये। एक तरफ़ तो रामोपासक कवियों का दल तैयार हुआ और दूसरी तरफ़ कृष्णोपासक कवियों का।

रामोपासक कवियों पर रामानन्द जी का मुख्य प्रभाव था। इन कवियों में तुलसीदास मुख्य हुये हैं। इन्होंने भक्ति का वास्तविक रूप दिखाकर जनता को हिन्दू-धर्म की ओर आकर्षित किया और अपने रामचरितमानस में एक आदर्श समाज की कल्पना की और सब प्राणियों को उसको अपनाने के लिये आमंत्रित किया। तुलसीदास हिन्दी-साहित्य के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं। उनके काव्यों में हिन्दी कविता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है।

रामोपासक कवियों की कोई बहुत बड़ी शृङ्खला न बन सकी। संभवतः इसका कारण यह हो कि तुलसीदास ने इस विषय पर इतना लिखा कि औरों के लिखने के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। परन्तु एक तरह से देखने पर रामोपासक कवियों की शृङ्खला अभीतक चली चल रही है। हमारे समय में भी राम-चरित पर अनेक कवियों ने अच्छी-अच्छी रचनायें की हैं और कर रहे हैं।

दूसरी तरफ़ कृष्णोपासक कवियों का एक बड़ा संप्रदाय स्थापित हुआ। वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की। इन्होंने कृष्ण को अपना उपास्य देव माना। इस मार्ग का अनुसरण करने वाले कवि कृष्णोपासक कहलाये। कृष्णोपासक कवियों ने अपने काव्यों में कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर उनका लीलामय जीवन अंकित किया है। कृष्ण के जीवन में प्रायः सभी रसों का समावेश है। अतएव कृष्ण-काव्य राम-काव्य की अपेक्षा अधिक सरस और हृदय-ग्राही हुआ है।

कृष्णोपासक कवियों में सूरदास सबसे प्रमुख हैं। सूरदास का नाम तुलसीदास के मुक़ाबले में रक्खा जाता है। इसमें

सन्देह नहीं कि कई बातों में सूरदास तुलसीदास से भी बढ़-चढ़कर हैं। मनुष्य-हृदय को गुदगुदाने की जो शक्ति सूरदास की रचना में है वह तुलसी की रचना में नहीं है। इनका सबसे प्रधान ग्रंथ सूरसागर है। कहते हैं, इन्होंने सवा लाख पदों की रचना की थी। पर अब केवल ५-६ हज़ार पद ही मिलते हैं। कुछ लोग इन्हें ब्रजभाषा का प्रथम कवि मानते हैं। सूरदास ने एक-एक विषय पर सैकड़ों पद लिखकर अपनी अद्भुत कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। हिन्दी में शृङ्गार रस और वात्सल्य-रस इनके जैसा सरस और कोई नहीं लिख सका है।

कृष्णोपासक कवियों में मीरा, नन्ददास और रसखान का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

मीरा कृष्ण को प्रियतम के रूप में भजती थीं। इन्होंने बड़ी मधुर कविता की है। नन्ददास ने भी रासपंचाध्यायी और भँवर-गीत आदि काव्यों की रचना की है और उनके द्वारा अपने सम्प्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार किया है। रसखान ने सवैयों में बड़ी हृदयस्पर्शी कविता की है। इनके सवैये अब भी बड़े चाव से पढ़े और गाये जाते हैं। इनकी भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा मानी जाती है।

भक्तिकाल में कुछ अन्य सुकवियों ने भी रचनायें की हैं; लेकिन उनकी रचनायें साम्प्रदायिक रचनाओं की कोटि में नहीं आसकतीं। रहीम, नरहरि, गंग और बीरबल इसी काल में हुये थे। नरोत्तमदास ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सुदामा-चरित' इन्हीं दिनों बनाया।

इसी काल में महाकवि केशवदास ने रामचन्द्रिका, कविप्रिया और रसिक-प्रिया नामक श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की। हिन्दी के

सुप्रसिद्ध कवि सेनापति का रचना-काल भी यही है। और भी बहुत से कवि इसी बीच में हुये। इस प्रकार यह काल हिन्दी के लिये काफ़ी गौरवपूर्ण था।

रीति-काल

भक्ति-काल के बाद सं० १७०० से सं० १६०० तक रीति-काल माना जाता है। साहित्यिकों के मत से यही हिन्दी का सब से वैभावशाली काल है। इस काल के अधिकांश कवियों ने लक्षण-ग्रंथ लिखे हैं। उन ग्रंथों में कविता करने की रीति बतलाई गई है। इसलिये इसको रीति-काल कहते हैं। रीति-काल की रचनायें मुख्यतः मुक्तक के रूप में हैं और ब्रजभाषा में हैं। नायिका-भेद पर सैकड़ों ग्रंथ लिखे गये और नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग की प्रशंसा में कवियों ने हजारों पद्य लिखे। हिन्दी-साहित्य में कवियों की बाढ़-सी आगई। चारोंओर शृङ्गार रस का प्रवाह बहने लगा।

हिन्दी साहित्य में रीति-काल का महत्त्व हम उस समय अच्छी तरह समझ सकेंगे, जब हम देखेंगे कि अनेक रसों के अच्छे-से-अच्छे कवि इसी काल में हुये हैं।

रीति-काल के मुख्य-मुख्य कवि ये हैं—

(१) बिहारी—बिहारी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं। इनकी बिहारी-सतसई अपने विषय की बेजोड़ रचना है। इसमें सात-सौ से कुछ अधिक दोहे हैं। प्रायः सभी चमत्कार-पूर्ण हैं। शृङ्गार रस का इतना हृदयग्राही और कलात्मक चित्रण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। ये कलाकार भी थे और कलाबाज़ भी थे।

(२) मतिराम—मतिराम ने ललित-ललाम, रसराज और मतिराम-सतसई नामक ग्रंथों की रचना की है। इनकी कविता बहुत ही सरस और स्वाभाविक हुई है। जीवन के मधुर क्षणों के सुन्दर-से-सुन्दर चित्र इनकी कविता में अंकित हैं। ये मनोभावों के अच्छे ज्ञाता थे।

(३) देव—इन्हें ७२ ग्रंथों का रचयिता कहा जाता है। देव की गणना हिन्दी के सर्व-श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। शृङ्गार-रस ही इनका मुख्य रस था। इसके अतिरिक्त इनकी रचनाओं में और कोई रस नहीं मिलता। भाषा पर देव का बड़ा अधिकार था। इन्होंने देश-भ्रमण भी ख़ूब किया था।

(४) पद्माकर—पद्माकर को लोग बिहारी के बाद रीति-काल के कवियों में सर्व-श्रेष्ठ समझते हैं और हिन्दी का अन्तिम सर्व-प्रसिद्ध कवि मानते हैं। इनका जगद्विनोद 'शृङ्गार-रस का सार ग्रंथ' कहा जाता है। इनकी कविता में अनुप्रासों की अच्छी बहार देखने को मिलती है।

(५) भूषण—वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि भूषण भी इन्हीं दिनों हुये हैं। भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा में शिवराज-भूषण और शिवाबावनी नामक दो अति प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की है। ये हिन्दुओं के एकमात्र प्रतिनिधि कवि हुये हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, बेनी, सुखदेव मिश्र, दूलह और भिखारीदास ने काव्य-शास्त्र पर अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखे, जो आजतक प्रामाणिक माने जाते हैं।

और भी बहुत-से कवि हुये हैं जिन्होंने लक्षण ग्रंथ न लिखकर फुटकर रचनायें की हैं। इनकी रचनाओं में कविता का बड़ा सरस रूप देखने को मिलता है। अनेक भक्त और शृङ्गारी

कवि इसी काल में हुये हैं। इनमें से आलम, घनानन्द, नागरीदास, रसनिधि और ठाकुर मुख्य हैं।

वीर रस के तो सभी श्रेष्ठ कवि—भूषण, छत्रसाल, लाल, सूदन और चन्द्रशेखर बाजपेयी आदि—इसी काल में हुये हैं।

लोकनीति पर लिखने वाले अच्छे-से-अच्छे कवि इसी काल में हुये हैं। वृन्द, बैताल, गिरिधर कविराय और दीनदयालगिरि आदि हिन्दीवालों में काफ़ी लोकप्रिय हैं।

इस युग के बनवारी, ग्वाल, तोष, ठाकुर, गिरिधरदास, बोधा और द्विजदेव आदि कवि भी अपनी श्रेष्ठ रचनाओं के लिये हिन्दी-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। कविता-प्रेमी इनकी कविताओं को आज भी बड़े चाव से पढ़ते हैं और उनका आदर करते हैं। इस प्रकार इन दो-सौ वर्षों को हम हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कह सकते हैं क्योंकि इस काल में हिन्दी-कविता के सभी अंगों का यथोचित विकास हुआ है और इस काल में श्रेष्ठ कवियों की संख्या में वैसी ही वृद्धि हुई है जैसे बसन्त-ऋतु में सुन्दर-सुन्दर फूलों की वृद्धि होती है। हिन्दी-कविता इस काल में अपनी यौवनावस्था को पहुँच गई है।

आधुनिक काल

रीति-काल के बाद हिन्दी-साहित्य में आधुनिक-काल का आरम्भ होता है। अभीतक पाठकों ने देखा होगा कि हिन्दी-साहित्य में सिर्फ़ काव्य-रचना की ओर ही लोगों की प्रवृत्ति थी। यद्यपि पृथ्वीराज, गोकुलनाथ, विट्ठलनाथ, गंग, नाभादास, जटमल और जसवन्तसिंह आदि के लिखे हुये गद्य के कुछ

उदाहरण मिलते हैं, परन्तु उनको साहित्यिक रचनाओं की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता।

आधुनिक-काल के आगमन के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य का क्षेत्र काफ़ी व्यापक हो चला। लोगों ने साहित्य के अन्य अंगों की ओर भी ध्यान दिया। देश में अँगरेज़ों के आ जाने से एक प्रकार की नवीन जागृति उत्पन्न होगई। अँगरेज़ अधिकारियों ने लोगों को गद्य लिखने के लिये काफ़ी प्रोत्साहित किया।

मुंशी सदासुखलाल (सं० १८०३—१८८१) ने गद्य की बोलचाल की भाषा में सुखसागर को भाषान्तरित किया। इसके बाद सं० १८५५ —१८६० के बीच उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। चूँकि ये उर्दू-फ़ारसी आदि कई भाषाओं के पंडित थे, इसलिये स्वभावतः इनकी भाषा चलती-फिरती और मुहावरेदार है। 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी मानी जाती है। इसमें इन्होंने ठेठ हिन्दी लिखने का प्रयत्न किया है। इनका उद्देश्य एक ऐसी भाषा में कहानी लिखने का था 'जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट' न मिले। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम यहाँ पर इंशा के गद्य का एक उदाहरण देते हैं—

'उन सभी पर खचाखच कुँजनियाँ, रमजानियाँ, डोमनियाँ भरी हुई अपने-अपने करतबों में नाचती, गाती, बजाती, कूदती, फाँदती, धूमें मचाँतियाँ, अँगड़ातियाँ, जम्हातियाँ, उँगलियाँ नचातियाँ और ढुली पड़तियाँ थीं।'

—रानी केतकी की कहानी

इसी समय लल्लूजीलाल हिन्दी के मैदान में उतरे। ये ही हिन्दी-गद्य के आदि पुरुष माने जाते हैं। ये कलकत्ते के फ़ोर्ट

विलियम कॉलेज में नौकर थे। नये आनेवाले अँगरेज़ों के लिये इन्होंने 'प्रेम-सागर' की रचना की। प्रेम-सागर की भाषा में खड़ी-बोली की प्रधानता है। 'खड़ी-बोली' शब्द का प्रयोग भी संभवतः पहले-पहल प्रेम-सागर ही में मिलता है। प्रेम-सागर के गद्य के दो-एक उदाहरण देखिये—

'जब वे पास पहुँचे तब राजा ने शूद्र को बुलाय दुख पाय झुँझलायकर कहा—अरे तू कौन है, अपना बखान कर, जो मारता है गाय औ बैल को जानकर। क्या अर्जुन को तैंने दूर गया जाना, तिससे उसका धर्म नहीं पहचाना।'

—प्रेमसागर

'इतनी कथा सुनते ही राजा परीक्षित बोले—महाराज, कैसे जन्म कंस ने लिया। किसने विसे महा वर दिया, फिर किस विधि से गोकुल पहुँचे जाय, यह तुम मुझे कहो समझाय।'

—प्रेमसागर

लल्लूजीलाल के बाद सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट साहब के आदेशानुसार नासिकेतोपाख्यान की रचना की। इसकी भाषा ब्रजभाषा-प्रधान है। रानी केतकी की कहानी, प्रेमसागर और नासिकेतोपाख्यान हिन्दी-गद्य के आदि-ग्रंथ माने जाते हैं।

सं० १९०२ में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने बनारस से 'बनारस अख़बार' निकाला। इसकी भाषा उर्दू शब्दों से लदी रहती थी। यही हिन्दी का सबसे पहला अख़बार था। इसकी भाषा इतनी ग़लत रहती थी कि किसी को इसके विषय में लिखना पड़ा था कि—

'बनारस में इक जो बनारस गज़ट है।
इबारत सब उसकी अजब ऊटपट है॥'

इन्हीं दिनों राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत-प्रधान भाषा में महाकवि कालिदास के ग्रंथों का बड़ा ही सरस अनुवाद किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में उर्दू शब्दों को बिल्कुल स्थान नहीं दिया। स्वामी दयानन्द ने भी इन्हीं दिनों हिन्दी के लिये बड़ा काम किया। इन्होंने अपने सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रंथों की रचना हिन्दी में की और प्रत्येक आर्यसमाजी के लिये हिन्दी जानना अनिवार्य-सा कर दिया।

जिन दिनों हिन्दी-गद्य का यह क्षेत्र तैयार हो रहा था, उन्हीं दिनों हिन्दी-साहित्य में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के शिष्य 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र उदय हुये। भारतेन्दु ने १८ वर्षों में हिन्दी की धारा ही बदल दी। ये एक युगान्तर-कारी साहित्यिक के रूप में साहित्य-क्षेत्र में पधारे। साहित्य के सभी अंगों को इन्होंने समान रूप से विकसित किया और हिन्दी-साहित्य को आगे बढ़ाने के लिये अनेक नये-नये प्रशस्त मार्ग भी बना दिये। भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की शैलियों को अपनाया और भाषा को एक सभ्य रूप दिया। ये हिन्दी-साहित्य के प्रथम मौलिक नाटककार माने जाते हैं। गद्य और पद्य दोनों में इनकी एक-सी गति थी। इन्होंने कवियों और लेखकों का एक बड़ा दल भी क़ायम किया। इनके प्रोत्साहन से बहुत-से लोग हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आये और जीवन-पर्यन्त उसकी सेवा में लगे रहे। हरिश्चन्द्र-युग के प्रमुख साहित्यकारों में पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित सुधाकर द्विवेदी और पंडित बदरीनारायण चौधरी तथा बाबू राधाकृष्णदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु ही ने हिन्दी-कविता में सबसे पहले राष्ट्रीय भावों का बीजारोपण किया था। इनके समय के गद्य का एक उदाहरण देखिये—

'इससे बढ़कर नीति-निपुणता क्या होगी कि रोज़गार में, व्यवहार में, कचहरी में, दरबार में, जीत में, हार में, बैर में, प्यार में लल्ला के सिवा दद्दा जानते ही नहीं। रीझेंगे तो भी ज़ियाफ़त लेंगे, नज़र लेंगे, तुहफ़ा लेंगे, सौग़ात लेंगे और इन सैकड़ों-हज़ारों के बदले देंगे क्या; 'श्रीईसाई' (C. S. I.) की पदवी या एक कागज़ के टुकड़े पर सार्टीफ़िकेट अथवा कोरी थैंक जिसे उर्दू में लिखो तो ठेंग अर्थात् हाथ का अँगूठा पढ़ा जाय।'

—निबन्ध-नवनीत

(प्रतापनारायण मिश्र)

भारतेन्दु के बाद दूसरे प्रबल साहित्यिक नेता पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी हुये। द्विवेदीजी ने हिन्दी की साहित्यिक भाषा को खरादने में काफ़ी परिश्रम किया। अनेक वर्षों तक 'सरस्वती' का सम्पादन करके इन्होंने हिन्दी को अच्छे-अच्छे लेख ही नहीं, अच्छे-अच्छे लेखक भी दिये। भारतेन्दु की तरह ये भी एक युगान्तरकारी व्यक्ति हुये। इनके प्रोत्साहन से हिन्दी में उच्चकोटि के लेखक, कवि और विद्वान् पैदा हुये। वर्षों तक इन्होंने हिन्दी-साहित्य पर एक शासक की तरह राज्य किया और अपनी तथा उसकी मर्यादा को क़ायम रक्खा।

इसी युग में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपना सुप्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य 'प्रिय-प्रवास' और पंडित रामचरित उपाध्याय ने 'राम-चरित-चिंतामणि' नामक श्रेष्ठ काव्य लिखा। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदीजी से प्रभावित होकर अनेक काव्यों की रचना की। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने तीन सुप्रसिद्ध खंडकाव्यों की रचना इन्हीं दिनों की। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से ठाकुर गोपालशरण सिंह ने अपनी सरस कविताओं

से खड़ी-बोली की कविता को माधुर्य प्रदान किया। चारोंओर खड़ीबोली का बोलबाला होगया। ब्रजभाषा के मैदान में केवल रतनाकरजी रह गये, जो जबतक जीवित रहे ब्रजभाषा की पताका फहराते रहे। उनकी मृत्यु के बाद ब्रजभाषा महारानी एक प्रकार से साहित्य-प्रदेश से निर्वासित-सी कर दी गईं।

भाषा ही में नहीं, कविता के भावों में भी बड़ा परिवर्तन होगया। अश्लीलता को छोड़कर लोगों ने पवित्र भावों को अपनाया। पहले समाज को लक्ष्य करके कविता की जाती थी, अब कवियों ने अपने सामने राष्ट्रीयता का लक्ष्य रखकर कविता लिखना प्रारंभ किया। राष्ट्रीयता के भावों की झलक कवियों की रचनाओं में मिलने लगी। एक प्रकार से कविता की शुद्धि होगई।

द्विवेदी-युग में साहित्य का क्षेत्र काफ़ी व्यापक होगया। हिंदी में अच्छे-अच्छे मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र निकलने लगे। प्राचीन ग्रंथों की टीकायें लिखी गईं और अनेक भाषाओं के अच्छे-अच्छे ग्रंथ अनुवादित और प्रकाशित होने लगे। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, इतिहास, विज्ञान, राजनीति आदि सभी विषयों की ओर लोगों का ध्यान गया। प्रेमचन्द ने अपने मौलिक उपन्यासों से तथा पद्मसिंह शर्मा और रामचंद्र शुक्ल ने अपनी गंभीर आलोचनाओं से साहित्य को काफ़ी गौरव प्रदान किया। इस प्रकार द्विवेदी-युग हिन्दी-साहित्य का एक बड़ा ही वैभवशाली युग माना जाता है।

द्विवेदी-युग के बाद साहित्य-प्रदेश पर छायावादियों ने अपना अधिकार जमाया। आजकल रहस्यवादी या छायावादी कवियों का एक बड़ा झुंड काव्य-रचना में संलग्न है। अभीतक यह निर्णय नहीं हो पाया कि इन कवियों का उद्देश्य क्या है और ये

किस दिशा की ओर जाना चाहते हैं। इसलिये रहस्यवादी कवियों पर सामूहिक रूप से कुछ भी कह सकना संभव नहीं है। छायावादी कवियों में बाबू जयशंकरप्रसाद, पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', बाबू भगवतीचरण वर्मा, बाबू रामकुमार वर्मा, पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पंडित सुमित्रानन्दन पन्त मुख्य हैं।

स्त्री-समाज में भी कविता का जागरण हुआ है। श्रीमती वर्मा के अतिरिक्त श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और श्रीमती रामेश्वरी देवी 'चकोरी' ने भी हिन्दी में काफ़ी ओजपूर्ण और सरस रचनायें की हैं।

नवयुवक कवियों में श्री हरिवंशराय बच्चन', श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', श्री आरसीप्रसाद सिंह, श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' और श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' अक्सर हिन्दी के मासिक पत्रों के पृष्ठों पर चमकते हुये नज़र आते हैं। इनमें से मेरी सम्मति में केवल 'दिनकर' और 'अंचल' ही ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं।

इस प्रकार हिन्दी का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन व्यापक होता चला जारहा है। भिन्न-भिन्न देशों के साहित्य से परिचित नवयुवक साहित्यिक हिन्दी के भाण्डार को भरने में प्रयत्नशील हैं। रोज़ नई-नई पत्रिकायें निकल रही हैं; नये-नये मौलिक ग्रंथ लिखे जारहे हैं और पाश्चात्य लेखकों के सुप्रसिद्ध ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित होरहे हैं। अहिन्दी-प्रान्तों में भी हिन्दी-प्रचार का कार्य ज़ोरों से चल रहा है। सभी प्रान्तों-द्वारा हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर ली गई है। अब एक हिन्दी पढ़ा-लिखा आदमी एक अँगरेज़ी पढ़े-लिखे आदमी की अपेक्षा ज़्यादा सभ्य गिना जाता है।

इस प्रकार जिस हिन्दी के छोटे-से बीज को आज से सदियों पहले पुष्य ने या चाहे जिसने आरोपित किया था, वह आज एक वट-वृक्ष की तरह विशाल होगया है। आज उसकी सघन छाया में एक महान् राष्ट्र की न जानें कितनी आत्मायें विश्राम कर रही हैं। हिन्दी-साहित्य की वर्तमान प्रगति को देखते हुये हम तो यही कह सकते हैं कि इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है और यह शीघ्र ही इस देश की सीमा को भी पार करेगा और एक दिन विश्व-साहित्य के लिये गौरव का एक कारण होगा। हमें उसी शुभ दिवस की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

हिन्दी-साहित्य में कविता का स्थान

प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्य का जन्म कविता से हुआ है। समस्त विश्व-साहित्य की उत्पत्ति के विषय में संभव है कि मेरा यह कथन ग़लत साबित हो, परन्तु भारतीय भाषाओं के साहित्य के विषय में तो मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ कि उनका जन्म या प्रारंभ कविता से हुआ है। संस्कृत का तो एक प्रकार से समस्त साहित्य ही कविता में है। उसमें आदि से अंत तक कविता का अखंड साम्राज्य है। वेद-पुराण कविता में हैं, नीति-धर्म और वैद्यक-शास्त्र सब कविता ही में हैं। कविता में न सही तो कम-से-कम पद्य में अवश्य हैं। उन पद्यों में भी कविता है क्योंकि उनमें कही गई बातें चमत्कार-पूर्ण शैली में व्यञ्जित की गई हैं। एक उदाहरण लीजिये।—

विष्णुपुराण में लिखा है कि नारद पाताल-लोक की यात्रा करके लौटे तो उन्होंने वहाँ के विषय में कहा कि—

दिवार्करश्मयो यत्र प्रभां तन्वन्ति नातपम्।
शशिरश्मिर्न शीताय निशिद्योताय केवलम्॥

(अर्थात्, 'जहाँ दिन में सूर्य की किरणें केवल प्रकाश ही करती हैं, घाम नहीं करतीं; तथा रात में चन्द्रमा की किरणों से शीत नहीं होता केवल चाँदनी फैलती है')

इन पंक्तियों में पाताल-लोक का कितना कवित्वपूर्ण वर्णन है। पुराण इतिहास-ग्रंथ हैं, नकि काव्य-ग्रंथ; फिर भी उनमें सरस काव्य के गुण वर्तमान हैं। हमारे यहाँ, भारतीय साहित्य में, नीरस-से-नीरस बात में से भी रस निचोड़ लेने की कला में लोग बड़े प्रवीण थे। वे लोग प्रत्येक बात को हृदय-ग्राही बनाने के लिये उसे कविता के साँचे में ढाल लेते थे, क्योंकि वे कविता की प्रभाव-शालिनी शक्ति से परिचित थे। हमारे शास्त्र आदि केवल पद्य-बद्ध ही नहीं हैं, बल्कि वे यत्र-तत्र कविता-बद्ध भी हैं।

संस्कृत ही अधिकांश भारतीय भाषाओं की जननी है। अतएव उसका यह प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं पर पड़ा है। यह सच है कि सब में शास्त्र, पुराण या वैद्यक आदि के ग्रंथ कविता में नहीं लिखे गये हैं, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी में कविता की प्रधानता है। ख़ासकर हिन्दी तो भाषा और साहित्य दोनों में संस्कृत से पूर्णतया प्रभावित हुई है। इसलिये संस्कृत की भाँति हिन्दी में भी कविता की प्रधानता हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

हिन्दी-साहित्य का जन्म कविता से हुआ है। चाहे हम 'पुष्य' को हिन्दी का जन्मदाता मानें, या 'चन्द' को, हर हालत में यही मानना पड़ेगा कि आदि में कविता थी। 'प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था' से हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति मानी जाती है। वह उत्पत्ति कविता के रूप में हुई। संभवतः चारणों ने उसे (कविता को) जन्म दिया। बचपन में सूर-तुलसी की गोद में वह सुख से पली और ख़ूब विकसित हुई। धीरे-धीरे वह यौवनावस्था को प्राप्त हुई और देव, बिहारी,

मतिराम और पद्माकर आदि ने उसके साथ ख़ूब क्रीड़ा की। १६ वीं शताब्दी तक हिन्दी-साहित्य में कविता-ही-कविता थी। उस समय तक के हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने का अर्थ है हिन्दी-कविता का इतिहास लिखना। उसके बाद भी साहित्य में कविता की ही प्रधानता रही। हमारे समय में भी, जबकि कविता-प्रेमियों की संख्या बहुत घट गई है, साहित्य में कविता का ही राज्य है। आज भी हिंन्दी-साहित्य में लेखक की अपेक्षा कवि अधिक हैं और गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक और अधिक सुन्दर लिखा जाता है। यही नहीं, गद्य-लेखक की अपेक्षा पद्य-लेखक का अब भी अधिक सम्मान किया जाता है। चारोंओर गद्य का बोलबाला ज़रूर है, पर इससे कविता की श्री नहीं मंद हुई है। इस समय भी हिंदी के अच्छे गद्य-लेखक दो या तीन से ज़्यादा न मिलेंगे, पर अच्छे कवि चार या पाँच तो ज़रूर मिलेंगे। हिंदी-कविता वृद्धा अवश्य होगई है, पर उसके प्रेमोपासकों की संख्या अब भी काफ़ी है।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि हिंदी-साहित्य में कविता का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है। हिंदी-साहित्य में उच्चकोटि के उपन्यास, नाटक और समालोचना के ग्रंथ शायद एक ही दो मिलेंगे, पर कविता के बीसों एक-से-एक अच्छे ग्रंथ मिलेंगे। हिंदी-साहित्य से उपन्यास, नाटक आदि निकाल दिये जायँ तो एक तरह से साहित्य को कुछ भी क्षति न पहुँचेगी, पर यदि कविता निकाल दी जाय तो उसका तो सब-कुछ लुट जायगा। हिंदी-साहित्य तो कविता ही की नींव पर खड़ा हुआ है। वह अपने सूर-तुलसी को हाथों में लेकर किसी भी साहित्य के सामने गर्व से खड़ा हो सकता है। जबतक देव, बिहारी, मतिराम,

पद्माकर उसके पास मौजूद हैं तब तक वह विश्व-साहित्य म अमर है।

हिंदी-साहित्य में कविता का आकर्षण इतना अधिक रहा है कि उसकी ओर कितने ही मुसलमान, कितने ही अँगरेज़, कितने ही महाराजा और बादशाह तक आकर्षित हुये और उसमें अपनी रचनायें करने लगे। रसखान पठान के सवैये आज भी हिन्दी-पाठकों को मुग्ध कर देते हैं। महाराजा जसवन्तसिंह और महाराजा बीरबल आदि हिन्दी में बड़ी सरस कविता करते थे। अकबर बादशाह स्वयं हिन्दी का कवि था। उसका मन्त्री रहीम तो हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में अपना एक स्थान रखता है। प्रेम-मार्गी कवि सभी मुसलमान थे, पर उन्होंने अपनी कवितायें हिन्दी में की हैं।

इसी तरह कई विदेशी जाति के लोगों ने हिंदी में कविता की है। फ्रेडरिक पिन्काट का एक कविता-पत्र देखिये, जो उन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र को भेजा था।—

'पर उपकार में उदार अवनी में एक,
भाषत अनेक यह राजा हरिचंद है।
विभव बड़ाई बपु बसन विलास लखि,
कहत यहाँ के लोग बाबू हरिचंद है॥
चन्द वैसो अमिय अनन्दकर आरत को,
कहत कविन्द यह भारत को चंद है।
कैसे अब देखें, को बतावै, कहाँ पावैं,
हाय कैसे वहाँ आवैं, हम कोई मतिमंद हैं॥'

—फ्रेडरिक पिन्काट

जिस दृष्टि से भी देखा जाय, कविता ही के कारण आज हिंदी-भाषा को अपना एक अलग साहित्य उपस्थित करने का गौरव प्राप्त हुआ है और कविता ही के कारण उसने सब जातियों और सब वर्ग के लोगों में प्रवेश पाया है। हिंदी-साहित्य कवितामय है। जो हिंदी-साहित्य की प्रगति को अच्छी तरह समझना चाहे, वह हिंदी-कविता की प्रगति का अध्ययन करे। हिंदी-साहित्य और हिंदी-कविता दोनों का वज़न अभी तक क़रीब-क़रीब बराबर है। संभव है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जाकर हिंदी-साहित्य का वज़न बढ़ जाय, क्योंकि उसमें नये-नये विषयों का समावेश होरहा है और साहित्य के अन्य अंगों का विकास करने में लोग लगे हुये हैं, परंतु फ़िलहाल तो न्याय-पूर्ण दृष्टि से देखने पर सम्पूर्ण हिंदी-साहित्य का वज़न हिंदी के काव्य-साहित्य के वज़न से कुछ ही ज़्यादा निकलेगा। अतएव हिंदी-साहित्य में कविता का स्थान बहुत ऊँचा है। वास्तव में, कविता ही उसकी निधि है। कविता के अतिरिक्त एक प्रकार से हिंदी साहित्य में अभी तक कुछ नहीं है। जो कुछ है भी, वह कुछ नहीं के बराबर है।

हिन्दी-कविता की विशेषतायें

हिंदी-कविता का जन्म ऐसे समय में हुआ जबकि देश में अशांति थी और राष्ट्र और समाज धीरे-धीरे विनाश की ओर जारहे थे। उसका लालन-पालन ऐसे समय में हुआ जबकि देश की स्वतंत्रता नष्ट हो चुकी थी और धर्म तथा समाज ख़तरे में पड़े थे। उसका विकास ऐसे समय में हुआ जबकि सदियों से पराधीन रहते-रहते लोगों की आत्मायें काफ़ी दब चुकी थीं और उनके हृदय पिस चुके थे। इसलिये हिंदी-कविता को स्वतंत्रता के वायु-मंडल में साँस लेने का सौभाग्य नही प्राप्त हुआ। इन परिस्थितियों का हिंदी-कविता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कविता का सच्चा विकास नहीं होने पाया। उसकी परिधि सीमिति होगई। लोगों ने स्वान्तः सुखाय' रचना करने की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। वे साहित्य-सेवा नहीं बल्कि समाज सेवा का उद्देश्य लेकर कविता करने लगे। हिन्दी-कविता में आदि से लेकर अन्त तक हिंदी-पाठकों को समाज और साहित्य का एक गहरा सम्बन्ध देखने को मिलेगा। वे देखेंगे कि हिंदी में कविता के लिये कविता कम हुई है। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कविता की गई है।

आदिकाल में चारणों ने रचनायें की हैं। उनकी रचनायें उनके हृदय का मातृत्व नहीं स्वीकार करतीं। वे तो राजाओं की

खुशामद में ज़माने का रुख़ देखकर लिखी गई थीं। इसमें शक नहीं कि चन्दबरदाई की रचना में उच्चकोटि की कविता के दर्शन होते हैं; परन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तत्कालीन कविता का जन्म हृदय से नहीं हुआ था बल्कि परिस्थितियों से हुआ था। उस समय की कविता में उस समय का समाज और राष्ट्र आवश्यकता से अधिक प्रतिबिम्बित होरहा है और मनुष्य का हृदय बहुत कम नज़र आता है। उसमें राजनीति अधिक है और कविता कम।

इसी प्रकार पूर्वमध्यकाल की रचनाओं का भी एक ख़ास उद्देश्य है। वे मुख्यतः धर्म और समाज की रक्षा के लिए लिखी गई हैं। सूर ने एक मार्ग-विशेष के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ अपनी रचनायें की। तुलसी ने हिन्दू-समाज के पुनर्निर्माण के लिये 'स्वान्तः सुखाय' की आड़ में कविता की। इसी तरह सन्त-मत के कवियों—कबीर, दादू, नानक आदि—ने समाज-सेवा का उद्देश्य सामने रखकर ही रचनायें की। इस काल में मुसलमानों का आगमन हो चुका था, अतएव समाज का संस्कार करने की आवश्यकता थी। इसलिये इस युग की कविता सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिये की गई है। इस समय की कविता धार्मिकता के सागर में पूर्ण रूप से डूब-सी गई है। उस समय लोगों के हृदयों को परिवर्तित करने की आवश्यकता थी; इसके लिये लोगों ने कविता का हथियार उठाया।

हाँ उत्तर मध्यकाल में समाज और साहित्य का सम्बन्ध कुछ टूटा हुआ सा नज़र आता है। रीतिकालीन कवियों का उद्देश्य न तो समाज-सेवा था, न राष्ट्र-सेवा और न धर्म-सेवा। वे अपना काव्य-कौशल प्रकट करने के लिये कविता लिखते थे। कुछ अंशों

में उनकी रचनाओं में भी उस समय का समाज झलकता हुआ नज़र आता है। देश में मुसलमानों का शासन पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था।

देश में शान्ति थी। ऐसे समय में विलासिता को फूलने-फलने का अच्छा मौक़ा था। लोग भोग-विलास में डूबे हुये थे। योग साधने की अपेक्षा पर-नारी का संयोग प्राप्त करना अधिक महत्त्व-पूर्ण समझा जाता था। उस युग की कविता में भी उस समय के समाज के मनोभावों का यथेष्ट चित्रण हुआ है।

आधुनिक समय में भी जितनी कवितायें हुई है सब में इस युग की पुकार साफ़-साफ़ सुनाई पड़ती है। 'स्वान्तः सुखाय' रचनायें करनेवालों की संख्या बहुत कम है। एक तरफ़ हरिऔध जी हैं जो समाज-सेवा का भाव सामने रखकर रचनायें करते हैं। दूसरी ओर राष्ट्रीय कवियों का एक अच्छा दल है, जो देश-सेवा की भावना लेकर कविता लिखता है। जिस तरह से हमारे वर्तमान समाज में बे-सिर-पैर की बातों का प्रचार बढ़ा हुआ है, उसी तरह उनका प्रतिनिधित्व करने के लिये बे-सिर-पैर की कविता करनेवाले रहस्यवादी या छायावादी कवियों का भी एक झुंड हमारे यहाँ मौजूद है।

मैंने ऊपर जो कुछ भी लिखा है उसको पढ़ने से पाठकों को स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी-कविता में कविता की स्वतंत्र सत्ता देखने को कम मिलती है। उसमें सर्वत्र धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण देखने को मिलेगा। बात यह है कि हमारे यहाँ धर्म, राजनीति और साहित्य ये तीनों समाज-रूपी पेड़ की डाली के समान माने गये हैं। हमारे यहाँ सारा ध्यान समाज-रचना की ओर दिया गया है। इसलिये जो कुछ भी

किया गया है समाज को ध्यान में रखकर किया गया है। यही कारण है कि लोगों को हिन्दी-कविता में कहीं-कहीं साम्प्रदायिकता की गंध मालूम पड़ती है। निश्चय ही हिन्दी कविता में जाति-प्रेम की भावना बहुत बलवती दिखाई पड़ती है।

इन कारणों से हिन्दी-कविता विश्व की सम्पत्ति न होकर मुख्यतः भारतीय सम्पत्ति बनकर ही रह गई है। उसमें इतनी अधिक भारतीयता है कि कोई विदेशी, विदेशी ही नहीं विदेशी सभ्यता में पला हुआ भारतवासी भी, उसके माधुर्य और रस को ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर सकता। उसको समझने के लिये भारतीय आदर्शों को समझना बहुत आवश्यक है। उसको समझने के पहले अपनी शुद्धि कराना आवश्यक है। हिन्दी-कविता में हिन्दुत्व की भावना इतनी प्रबल रही है कि मुसलमानों ने भी हिन्दी में कविता करते समय हिन्दू-आदर्शों को ही अपनाया है। उन्होंने भी अपनी रचनाओं में भारतीय मर्यादा का ध्यान रक्खा है और किसी हिन्दू को ही अपना चरित्र-नायक बनाया है।

हिन्दी-कविता की एक और विशेषता पाठकों ने ऊपर के वर्णन से नोट की होगी कि हमारे यहाँ किसी भी काल में निरुद्देश्य कविता नहीं हुई है। सच बात तो यह है कि हमारे यहाँ कोई भी कार्य निरुद्देश्य नहीं हुआ है। हमने कविता के द्वारा प्राचीन समाज का पुनरुद्धार किया है और नवीन समाज का निर्माण किया है। हमारी कविता ने केवल जनता का मनोरंजन ही नहीं किया है। उसने एक गिरते हुये राष्ट्र के लिये वह कार्य किया है जो बड़ी-बड़ी सेनायें भीषण रक्तपात करके भी नहीं कर सकती थीं। उसने गिरते हुये को उठाया है, डूबते हुये को उबारा है और बुझते हुये को फिर से जलाया है। वह हमारे

सामाजिक जीवन में बहुत बड़ी शक्ति बनकर रही है। किसी समय में वह हिन्दू जाति की प्रधान संरक्षिका थी। आज भी वह हमारे जीवन को आगे खींचने में अपनी प्रबल शक्ति का उपयोग कर रही है। कबीर और तुलसी की रचनाओं के क़िले में हमारी भारतीयता आज भी सुरक्षित है। जीवन के दुर्गम मार्ग में चलते-चलते जब हम थक जाते हैं तो कबीर की साखियाँ, तुलसी की चौपाइयाँ और सूर के पद हमारे सामने आजाते हैं और हमारी सारी थकावट को दूर करके हमारे भीतर एक नई स्फूर्ति भर जाते हैं। जब हम अपने आसपास चारोंओर अंधकार देखकर घबड़ा जाते हैं और निराश हो जाते हैं तो हमारे ये कवि अपनी महान् रचनाओं के दीपक लेकर उद्धारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। हिन्दी-कविता में जीवन देने की बड़ी शक्ति है।

हमारी समस्त कविता में आशा और जागरण का एक संदेश सुनने को मिलेगा। उसमें कहीं निराशा या कायरता का वातावरण नहीं है। सभी ओर वीरता है, शान्ति है और आनन्द है। हमारी अधिकांश रचनायें सुखान्त हैं। उनमें जीवन को सौन्दर्य प्रदान करने वाला तत्त्व प्रचुर मात्रा में वर्तमान है। हमारी समस्त कविता पवित्र भावों से ओत-प्रोत है। हमारे महान् शृङ्गारी कवियों ने भी जो कुछ काम-क्रीड़ा की है, वह स्त्री के साथ की है। मुसलमान कवियों की तरह वे रूपवान् लड़कों पर नहीं आशिक़ हुये हैं। वे तो अल्प-वयस्का स्त्रियों पर भी नहीं रीझे हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में कोई भी अप्राकृतिक या अपवित्र भावना नहीं आने दी है। हिन्दी-कविता में आदि से अन्त तक आपको कहीं भी दूषित वायुमंडल देखने को न मिलेगा।

हिन्दी-कविता को पढ़ते समय यह बात स्पष्ट होजाती है कि हिन्दी-कवियों की प्रवृत्ति सौन्दर्य-निरीक्षण की ओर विशेष थी। ख़ासकर वाह्य सौन्दर्य का निरीक्षण हिन्दी-कविता में ख़ूब हुआ है। नारी-सौन्दर्य का अच्छा-से-अच्छा वर्णन हिन्दी-कविता में मिलेगा। संस्कृत कवियों को छोड़कर और किसी भी साहित्य के कवि इस विषय में हिन्दी-कवियों के सामने नहीं ठहर सकते। उसी प्रकार प्रकृति का भी वर्णन हिन्दी-कविता में बहुत सुन्दर और बहुत अधिक देखने को मिलेगा। भारतवर्ष प्रकृति का कीड़ास्थल होने के कारण यहाँ के श्रेष्ठ कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति से अपना विशेष परिचय प्रकट किया है। उन्होंने प्रकृति का अच्छा निरीक्षण किया है और प्राकृतिक दृश्यों का काफ़ी सजीव चित्र अंकित किया है। एक-एक वृक्ष पर एक-एक लता पर एक-एक फूल पर और एक-एक दृश्य पर सैकड़ों कवितायें हैं; लेकिन सब में अपनी एक अलग विशेषता है। हिन्दी-साहित्य में भावात्मक कविताओं की ज़रूर कमी है, पर उसके पास वर्णनात्मक कविताओं का एक बहुत बड़ा कोष है।

इस प्रकार, पाठक देखेंगे कि हिन्दी-कविता की अपनी कुछ अलग विशेषतायें हैं। ऊपर मैंने उसकी कुछ ऊपरी विशेषताओं की ओर निर्देश किया है जिनके कारण वह अपना एक अलग स्थान रखती है। उसकी भीतरी विशेषताओं का ज्ञान हिन्दी-कविता पर लिखे गये आगे के निबन्धों से सहज ही में हो जायगा।

हिन्दी-कविता की प्रगति

(१)

ऋतुयें हमेशा एक-सी नहीं रहतीं; पक्षियों का कलरव सुबह-शाम बदलता रहता है; मनुष्य की अवस्था नये-नये रूप धारण करती रहती है; बाज़ार तक का भाव चढ़ता और उतरता रहता है; फिर कवि की कविता ही एक दायरे में बन्द होकर क्यों रहे ? वह भी संसार की अन्य वस्तुओं की भाँति प्रगति-शील एवं परिवर्तन-शील है। परिवर्तन ही संसार का निश्चित धर्म है।

हिन्दी-साहित्य की उम्र इस समय लगभग एक हज़ार वर्ष की हो चुकी है। इस बीच में उसने बड़े-बड़े दिन देखे हैं। उसके तख़्त पर कई बादशाहतें आईं और चली गईं। अनेक ऋतुयें आईं और साहित्य-कानन पर अपना प्रभाव छोड़कर चली गईं। अनेक कवि आये और अपने भावों के मधुर बसन्त से साहित्योपवन को कुसुमित करके चले गये। कितने रोनेवाले और कितने ही गानेवाले लोग साहित्य की इन गलियों में आये और अपनी एक कहानी छोड़कर समय के साथ आगे बढ़ते हुये इस संसार की सीमा के पार चले गये। इन एक हज़ार वर्षों की लम्बी दौड़ में हिन्दी-काव्य-साहित्य की रेलगाड़ी अनेक जंक्शनों पर रुकती हुई ख़ूब तेज़ी से दौड़ी है।

हरएक देश के साहित्य में वहाँ की कुछ देशगत विशेषताओं का प्रभाव अवश्य पड़ता है। वहाँ की प्रकृति का प्रभाव पड़ता है, रहन-सहन का प्रभाव पड़ता है और ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। हिन्दी-कविता की प्रगति का अध्ययन करते समय भी हमारे लिये उस वातावरण को ठीक से समझ लेना आवश्यक है, जिसके भीतर उसका जन्म और विकास हुआ है। हिन्दी-काव्य के वृक्ष में भिन्न-भिन्न काल में जैसी-जैसी खाद डाली गई है, वैसे-ही-वैसे रङ्ग-बिरङ्गे फूल उसमें खिले हैं।

जिन दिनों हिन्दी-कविता की उत्पत्ति हुई उन दिनों संस्कृत-कविता के पीन पयोधर तो ढलक ही पड़े थे, अपभ्रंश का यौवन भी लुट चुका था। हिन्दी-कविता का साथ देने के लिये कोई उन्नत साहित्य नहीं था। वृद्धा अपभ्रंश के गर्भ से हिन्दी-कविता का जन्म हुआ—सो भी राजपूताना जैसे मरु-प्रदेश में और चारणों-द्वारा। ये चारण लोग ही हमारे वाल्मीकि हैं। यह परिवर्तन का युग था। भाषा के लिये तो परिवर्तन का युग था ही क्योंकि अपभ्रंश एक नई भाषा में परिवर्तित हो रही थी, साथ-ही-साथ देश के लिये भी परिवर्तन का युग था। राजनीतिक क्षेत्र में उथल-पुथल मची हुई थी। संवत् ७०४ में हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी। राष्ट्र की एकता अनेकता में बदल चुकी थी। राजपूताने में स्वतंत्र रियासतें क़ायम हो चुकी थीं, जिनके अलग-अलग दरबार लगते थे। उन दरबारों में कवियों या चारणों को भी रक्खा जाता था, क्योंकि दरबारों में यश-वर्णन करने के लिये एक-न-एक कवि को रखना राजाओं का एक प्रकार से सनातन-धर्म हो गया था। ये चारण लोग कविता करने को एक तरह से अपना पेशा बनाये हुये थे। जैसा रुख़ देखते थे,

वैसे छन्द जोड़ देते थे। राजा किसी सुन्दरी पर रीझा तो इन्होंने फ़ौरन शृङ्गार रस की कोई उक्ति सुना दी; राजा लड़ाई पर चले तो ये वीर रस की कविता लेकर उसके साथ-साथ चल पड़े; राजा दरबार लगाकर बैठे तो चारण लोग नीति-विषयक दोहे सुनाने लगे। यह चारणों का युग था। न तो इस युग में भावों की कोई निश्चित् गति थी और न भाषा ही का कोई निश्चित् रूप था। भाषा प्राकृत के शब्दों से लदी हुई थी। साहित्य एक नवजात शिशु की तरह पड़ा हुआ इधर-उधर हाथ-पैर पटक रहा था और 'अटपटी' भाषा में बोल रहा था। हिन्दी-भाषा अपभ्रंश की गोदी में खेल रही थी। यह संवत् एक हज़ार के आसपास की बात है। हिन्दी-कविता धीरे-धीरे अपनी टाँगों पर खड़ी हो रही थी। अभी उसने चलना नहीं सीखा था, इसलिये उसकी प्रगति के विषय में कुछ नहीं लिखा जा सकता। कवियों के सामने कोई विशेष लक्ष्य नहीं था। उनकी भाषा भी साफ़-सुथरी नहीं थी। वह मुख्यतः राजस्थानी थी।

चारण-काल की कविता का सबसे निखरा हुआ रूप चन्द-बरदाई-कृत पृथ्वीराज-रासो में देखने को मिलता है। यद्यपि पृथ्वीराज-रासो के पहले की लिखी हुई एक काव्य-पुस्तक 'बीसलदेव-रासो' भी उपलब्ध है, पर उससे हिन्दी-कविता की प्रगति का कुछ भी बोध नहीं होता। हमें तो उस ग्रंथ को असली मानने में भी आपत्ति है। वह तो बाद में लिपि-बद्ध किया गया है, इसलिये उसका वास्तविक रूप क्या रहा होगा, यह कहना कठिन है। हिन्दी-साहित्य के इस अज्ञात युग के अथाह समुद्र में डूबनेवाले को केवल एक ही ग्रंथ का सहारा लेना चाहिये—पृथ्वीराज-रासो का।

पृथ्वीराज-रासो के विषय में लोगों का कहना है कि यह सोलहवीं शताब्दी के किसी भाँट की करतूत है। हमारी समझ में यह बात नहीं आई कि यदि किसी भाँट ने इतना परिश्रम किया तो उसे इसे अपनी कृति मानने में क्या आपत्ति थी। धन का लोभ तो लोग छोड़ देते हैं, पर यश का लोभ नहीं छोड़ते। यदि किसी ने ढाई हज़ार पृष्ठों का इतना श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ लिखा और लिखकर उसे दूसरे की कृति कहकर प्रकाशित किया तो वह अवश्य ही महामूर्ख रहा होगा। पर रासो-कार को हम मूर्ख मानने को तैयार नहीं हैं। अवश्य ही पृथ्वीराज-रासो पृथ्वीराज के समकालीन चन्द कवि की रचना है। इसकी रचना संवत् १२०९ और १२४९ के बीच में हुई है।

'रासो' तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-कविता एक रास्ते पर आ चुकी थी। 'रासो' को पढ़ने से तो यह भी आभास मिलता है कि इसके पहले भी हिन्दी में अच्छी रचना होती रही होगी क्योंकि यकायक इतना अच्छा ग्रंथ नहीं रचा जा सकता। जिन छन्दों का व्यवहार रासो में हुआ है, उनका व्यवहार उसके पहले भी होता रहा होगा। और चन्द के पहले भी कुछ कवि रहे होंगे। पर उनका अब कुछ पता नहीं है। चन्द ने भी रासो के प्रारंभ में अनेक कवियों का उल्लेख किया है, पर वे सब संस्कृत के कवि हैं। भाषा का कोई श्रेष्ठ कवि रहा होता तो चन्द ने उसका भी उल्लेख अवश्य किया होता। जयदेव के विषय में—

'जयद्देव अट्ठं कवी कव्विरायं।
जिनैं केवलं कित्ति गोविन्द गायं॥'

—पृथ्वीराज रासो

ऐसा लिखकर चन्द अपने विषय में लिखने लगता है कि ये सब बड़े-बड़े कवि हैं (या मेरे गुरु हैं) और मैं छोटा कवि हूँ—

'गुरं सव्व कव्वी लहू चंद कव्वी'
—पृथ्वीराज-रासो

भाषा का एक भी अच्छा कवि हुआ होता तो रासो में उसका भी नाम आगया होता क्योंकि उन प्रारंभिक दिनों में तो हिन्दी में थोड़ा-बहुत लिखनेवाले भी बहुत बड़े कवि समझे जाते रहे होंगे। कुछ भी हो, जबतक कोई प्रमाण नहीं मिलता तबतक कल्पना के घोड़े दौड़ाना व्यर्थ है।

पृथ्वीराज-रासो की कविता में हिन्दी-भाषा का अच्छा उपयोग हुआ है, यद्यपि वह प्राकृत और अपभ्रंश से काफ़ी दबी हुई है। रासो के अच्छे-अच्छे वर्णनों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय तक हिन्दी में किसी अंश तक अच्छी कविता होने लगी थी। चंद के मरने के क़रीब सौ वर्ष बाद अमीर ख़ुसरो ने उस समय की बोलचाल की भाषा में कविता की है। उसको पढ़ने से भी ज्ञात हो जाता है कि उस समय तक हिन्दी का रूप काफ़ी निखर चुका था। ख़ुसरो ने फ़ारसी और हिन्दी में मिलाकर लगभग ९९ ग्रंथ लिखे थे। इनकी हिन्दी की कविता पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि दिल्ली के आसपास उन दिनों भी खड़ीबोली का व्यवहार होता था। ख़ुसरो की पहेलियों में खड़ी-बोली का शुद्ध रूप देखने को मिलता है। जैसे निम्नलिखित पद्यों में देखिये।—

'सर पर जटा, गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर-भर झोली घर को धावें, उसका नाम पहेला है॥'
—ख़ुसरो

'एक नार ने अचरज किया।
साँप मार पिँजरे में दिया॥'

—ख़ुसरो

'फ़ारसी बोले आईना।
तुरकी सोचे पाईना॥
हिन्दी बोलते आरसी आये।
मुँह देखे जो इसे बताये॥'

—ख़ुसरो

ख़ुसरो की पहेलियों आदि को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि हिन्दी-कविता अब जन-साधारण के बीच में भी प्रवेश कर चुकी थी। वह अब राज-बन्धन से मुक्त होचुकी थी। उसका क्षेत्र कुछ-कुछ व्यापक हो चला था।

(२)

कुछ भी हो, कम-से-कम कबीर के पहले की कविता की प्रगति का ठीक-ठीक पता पाना बहुत कठिन है। ख़ुसरो की रचनाओं में भी बाद को बहुत-सी पहेलियाँ आदि जोड़ दी गई हैं, इसलिये उनकी सहायता से कविता की प्रगति निर्धारित करना कठिन है।

वास्तव में, कबीर के समय से हिन्दी की तरफ़ लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि कबीर के समय में भी हिन्दी के विरोधियों की संख्या बहुत काफ़ी थी। वे हिन्दी को उठने देना नहीं चाहते थे और उसके मुक़ाबले में संस्कृत को रखना चाहते थे। कबीर लड़ाके तो स्वभाव से ही थे। वे पहले व्यक्ति थे जो हिन्दी के प्रचार के लिये उठे। इसमें शक नहीं कि कबीर जैसे प्रबल नेता के नेतृत्व में हिन्दी की रफ़्तार ख़ूब

बढ़ी और हिन्दी का चारोंओर सिक्का जम गया। कबीर ने भाषा का काफ़ी पक्ष लिया। इस विषय में उन्होने कई दलीलें दीं, जिनमें से एक मैं यहाँ पर उद्धृत करता हूँ।—

'संस्किरत है कूप-जल,
भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सहित है,
सतमत गहिर गँभीर॥'

— कबीर

कबीर ने हिन्दी के प्रचार के लिये यही नहीं किया कि उन्होंने अपने मतों का प्रचार हिन्दी में किया और हिन्दी के पक्ष में वकालत की, बल्कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य में सबसे पहले कविता को संगीत-बद्ध किया। इससे लोग हिन्दी की तरफ़ विशेष रूप से आकर्षित हुये।

यह पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का समय था। देश की राजनीतिक दशा यह थी कि दिल्ली में मुसलमानों का केन्द्रित शासन स्थापित हो चुका था और छोटे-छोटे राजाओं की स्वच्छन्दता सीमित होगई थी। उनके दरबारों का पुराना वैभव समाप्त होगया था। सामाजिक परिस्थिति यह थी कि मुसलमानों के आ जाने से हिन्दू-मुसलिम समस्या उठ खड़ी हुई थी। हर्ष की मृत्यु के बाद राष्ट्र अव्यवस्थित होगया था, इससे धर्म की बागडोर भी ढीली पड़ गई थी। बीसों कल्पित सम्प्रदाय बन गये थे। तरह-तरह के अंधविश्वास फैले हुये थे और फैलते जारहे थे। हिन्दुओं की दशा बहुत शोचनीय होगई थी। वे सभी तरफ़ से दबाये जारहे थे। यह एक स्वाभाविक बात है कि जब लोग

बहुत सताये जाते हैं और उनका बस नहीं चलता तो वे हाथ उठाकर राम की दुहाई देते हैं। उसी तरह जब बहुत दवा वग़ैरह करने पर भी मरीज़ नहीं अच्छा होता तो वह अन्तिम अवस्था में राम-राम कहकर आशा का दीपक जलाकर बैठा रहता है। भारतीय जीवन में भी यही हुआ। संवत् १४३० के लगभग स्वामी रामानुज के शिष्य स्वामी रामानन्द जी उठे। उन्होंने ब्रह्म को व्यक्तित्व प्रदान किया। उन्होंने राम में परमात्मा के सभी गुणों की व्यापकता दिखलाकर राम की पूजा करने का उपदेश दिया। उसकी प्राप्ति का साधन इन्होंने भक्ति माना। इन्होंने हिन्दुओं का ख़ूब संगठन किया और वैष्णव-धर्म का प्रचार किया। रामानन्दजी ने यही नहीं किया; इन्होंने संस्कृत को छोड़कर हिन्दी को अपनाने पर ज़ोर दिया। रामानन्दजी स्वयं तो हिन्दी के अच्छे कवि न थे, पर इनके शिष्यों ने इनके हिन्दी-प्रचार के संदेश को हृदय से अपनाया। इससे हिन्दू-जनता में हिन्दी-भाषा काफ़ी व्यापक हो चली। पीछे तो हिन्दी ही में राम-भक्ति-विषयक कविता करने की परिपाटी-सी चल पड़ी। तुलसीदास भी इन्हीं के मार्ग के अनुयायी थे। इस प्रकार हिन्दी-कविता और समस्त हिन्दी-साहित्य पर रामानन्द जी का बड़ा ऋण है। कबीर भी तो अपने को इन्हीं का शिष्य मानते थे।

जिस समय देश और समाज की यह दशा थी, उन्हीं दिनों हिन्दी-कविता के प्रदेश में कबीर आये। इनका जन्मकाल संवत् १४५६ माना जाता है। देश और समाज का वातावरण ऐसा नहीं था कि उसमें किसी भी ललित-कला का विकास होसकता।

तत्कालीन परिस्थितियों से सबसे पहला मोर्चा कबीर ही को लेना पड़ा। साहित्य-द्वारा उन्होंने समाज पर तो अपनी धाक

जमा ली, पर उसके द्वारा वे विशेष साहित्य-सेवा न कर सके। हिन्दी-पद्य-रचना को वे कविता की डिग्री न दिला सके। यद्यपि स्वयं कबीर की रचना में हृदय को स्पर्श करने वाला गुण काफ़ी मात्रा में विद्यमान है, फिर भी उसके द्वारा हिन्दी-कविता के सौन्दर्य की ओर कोई नहीं आकर्षित हुआ है।

कबीरदास और उनके अनुयायियों की रचनाओं में बड़ी शुष्कता है। कविता बिल्कुल रेगिस्तान में होकर चली है। इन ज्ञानमार्गियों या निर्गुणवादियों की रचनाओं में नीति अधिक है, कविता कम; दिमाग़ ऊपर है और दिल नीचे पड़ गया है। इनकी रचनाओं में चारोंओर निराशा ही निराशा है। ये लोग इस संसार में परदेशी बनकर आये।—

'मैं परदेसी काहि पुकारौं, इहाँ नहीं कोउ मेरा।'

—कबीर

'रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद परे घुलि जाना है॥'

—कबीर

परदेशी बने रहने के कारण इन्होंने इस संसार के सौन्दर्य को कम देखा। इन्होने यहाँ पर दुःख-ही-दुःख देखा।—

'हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरैं ज्यों घास।
सब जग जरता देखिकरि, भये कबीर उदास॥'

—कबीर

'आये हैं सो जाइँगे' — कबीर

इन विचारों के कारण कविता में सौन्दर्य-प्रेम और आनन्द की वह भावना न आसकी जो कविता को कवित्व प्रदान करती

है। कविता की भाषा भी इस काल में बिल्कुल नहीं खरादी जा सकी। साहित्यिक भाषा का तो कोई रूप निर्धारित ही न हो सका। स्वयं कबीर की भाषा कई भाषाओं की खिचड़ी है। उसमें खड़ीबोली, अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं के मसाले पड़े हैं। वह बहुत कर्ण-कटु है और व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। भाषा में इतना ज़्यादा गँवारूपन है कि आजकल का शहराती साहित्यिक तो उसको समझ ही नहीं सकता। इनकी भाषा के कुछ उदाहरण देखिये।—

'अँधियरवा में ठाढ़ी गोरी का करलू!'

— कबीर

'भरि गये ताल, तलैया, सागर,
बोलन लागे मेघवा।'

— कबीर

'चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुआ कराइन, बहुरी भुँजाइन,
घूँघट ओटे भसकत जाय॥
गठरी बाँधिन, मोटरी बाँधिन,
खसम के मूड़े दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिनि, औंठा पहिरिन,
लात खसम के मारिन धाय॥
....
....॥'

— कबीर

'सार सबद से सुरत लगाई,
मारा रावन पाजी।'

— कबीर

'पढ़ो मन ओनामासी धंग ।'
(ॐ नमः सिद्ध)

—कबीर

आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर इनकी रचनायें चाहे जितनी ऊँची जँचें, पर काव्य-दृष्टि से देखने पर उनमें विशेष मज़ा न मिलेगा । निम्न-लिखित रूपकों को देखिये—

'ज्ञान का गेंद कर सुर्त का डंड कर,
खेल चौगान मैदान माहीं ।'

—कबीर

× × ×

'लौ की लौकी धरो पलरे में,
सील कै सेर चढ़ाई ।'

—कबीर

इनमें कविता कहाँ है ? इसी तरह कबीर की उल्टवाँसियों में भी कविता नहीं है ।

लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर ने हिन्दी-कविता के लिये एक मज़बूत क़िलेबन्दी कर दी । उनकी अधिकांश रचनायें अवश्य ही काव्य की दृष्टि से बहुत साधारण हैं, पर कुछ ऐसी भी हैं, जो बहुत उच्चकोटि की हैं । ये चिरकालिक सुख की खोज में लगे रहे, इससे संसार का सौन्दर्य देखने का इन्हें मौक़ा ही न मिला । कबीर ही हिन्दी में रहस्यवाद के जन्मदाता माने गये हैं । हिन्दी-कविता को देश-व्यापक बनाने का पहला प्रयत्न इन्हीं के द्वारा हुआ । कबीर की कुछ कवितायें खड़ी-बोली में

भी हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी खड़ी-बोली का अस्तित्व था।—

'हड़हड़हड़हड़ हँसती है।
दीवानपना क्यों करती है॥
आड़ी-तिरछी फिरती है।
क्यों च्यों-च्यों म्यों-म्यों करती है॥'

—कबीर

इन्होंने हिन्दू और मुस्लिम-सिद्धान्तों के गर्भ से संतमत को जन्म दिया। इस मत के सभी कवियों ने अपने ज्ञान के प्रचार के लिये हिन्दी-कविता को अपनाया। इसका हिंदी के पक्ष में बड़ा हितकर प्रभाव पड़ा। इस प्रकार कबीर के हाथों हिंदी-कविता को आगे बढ़ने के लिये काफ़ी बल प्राप्त हुआ। भारतवासी स्वभाव से ही धर्म-प्रेमी होते आये हैं। जब धर्म का प्रचार हिन्दी-कविता में होने लगा तो वे स्वभावतः हिन्दी-कविता की ओर भी आकर्षित हुये।

देश में सूफ़ीमत का भी प्रचार हो चुका था। इससे उसके आदर्शों को अपनाकर कुछ लोग मधुर कविता भी करने लग गये थे। संवत् १५५८ में कुतबन ने मृगावती नामक प्रेम काव्य लिखा था। फिर जायसी ने १५९७ में पद्मावत नामक प्रबन्ध काव्य लिखा।

इन काव्यों से कविता की श्री कुछ-कुछ निखरने लगी। परन्तु हिन्दी-कविता का सच्चा विकास तो १७ वीं शताब्दी में हुआ जब उसको सूर और तुलसी का सहयोग प्राप्त हुआ।

(३)

देश में मुसलमान शासक लोग एक सुव्यवस्थित शासन की स्थापना कर चुके थे। चारोंओर पहले से अधिक शान्ति थी। मुसलमान शासकों ने हिन्दू-समाज के प्रति चाहे जो अन्याय किया हो, पर उन्होंने हिन्दी-साहित्य पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। अधिकांश मुसमलान बादशाहों के दरबारों में उनके आश्रित कवि रहते थे। वे शासक स्वयं भी कविता करते थे। खुद अकबर हिन्दी का बड़ा ही प्रेमी था। मुसलमान बादशाहों को हिन्दी के प्रति केवल ऊपरी अनुराग ही नहीं था; उनके राज्य के सभी काम प्रायः हिन्दी में होते थे। यह तो सं० १६३८ में एक हिन्दू (टोडरमल) के हाथों ऐसा हुआ कि दफ़्तरों में हिन्दी के स्थान पर फ़ारसी का प्रयोग होने लगा। फिर भी मुसलमानों ने हिन्दी को फूलने-फलने का काफ़ी मौक़ा दिया। देश की तो यह दशा थी। दूसरी ओर समाज में भी पहले की अपेक्षा अधिक शान्ति थी। समाज के सभी काँटे कबीर अपनी काँटे की तरह तीक्ष्ण बातों से निकाल चुके थे। फटे हुये समाज के कपड़े को वे काफ़ी दूर तक सी भी चुके थे। हिन्दी-भाषा का काफ़ी प्रचार भी वे कर चुके थे। एक तरह से सूर-तुलसी के स्वागत की सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं।

जिस तरह से स्वामी रामानन्द जी ने राम की उपासना का मार्ग तैयार किया था, उसी तरह क़रीब-क़रीब उसी लाइन पर स्वामी वल्लभाचार्य जी ने कृष्ण की उपासना का मार्ग तैयार किया। इन्होंने एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय खड़ा किया और ब्रजभाषा में कविता करने की नींव डाली। इसी सम्प्रदाय में हिन्दी के सर्व-प्रथम पीयूषवर्षी और साहित्यिक कवि सूरदास हुये। उधर

रामानन्द जी के सम्प्रदाय में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास जी हुये।

कबीर आदि निर्गुणोपासकों ने जीवन के सौन्दर्य को क्षितिज के उस पार देखा था। इन सगुणोपासक कवियों ने सारा सौन्दर्य इसी संसार में देखा। ये लोग इसी संसार को सजाने में लगे रहे और यहीं पर जीवन को आनन्दित करनेवाले तत्त्वों की खोज में तत्पर हुये। निर्गुण ब्रह्म को ये लोग इस संसार में पकड़ लाये और उसको सगुण कर दिया। ये लोग इस दुनिया को ईश्वर का लीला-लोक समझकर खूब फूँक-फूँक कर क़दम रखते थे; डरते थे कि न जाने किस रूप में ईश्वर मिल जाय।

ख़ैर, हमें इनके दार्शनिक सिद्धान्तों से विशेष प्रयोजन नहीं है। इस समय तक आकर कविता की गति इतनी स्पष्ट हो गई थी कि अब हम स्पष्ट रूप से उसे समझ सकते हैं। कविता अपने साहित्यिक रूप में आगई थी। काव्य की भाषा भी निर्धारित हो चुकी थी। काव्य मुख्यतः दो बोलियों में किया जाता था— ब्रजभाषा में और अवधी में। काव्य का क्षेत्र बहुत व्यापक हो चला था। कविता कविता के लिये भी की जाने लगी थी। आगे चलकर जो धारायें हिन्दी-साहित्य में प्रवाहित हुईं उन सभी का सूत्रपात इसी काल में हुआ। पहले हिन्दी-कविता भक्ति-प्रचार के कार्य के पीछे-पीछे चलती थी अब स्वयं भक्ति हिन्दी-कविता के रथ पर चढ़कर चलने लगी।

यह सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का समय था। एक तरफ़ तो ब्रजभाषा के प्रथम श्रेष्ठ कवि सूरदास ने हिन्दी-कविता के मरुस्थल में ब्रजभाषा की कविता की रस-धारा बहाई। उन्होंने—

'गोकुल सब गोपाल-उपासी।
जोग अङ्ग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥'
—सूरदास

आदि पंक्तियाँ लिखकर कबीर आदि निर्गुणोपासकों को खूब कड़ा जवाब दिया और अपने गोपाल को लाकर हमारे घर-घर में खड़ा कर दिया। गोपाल ही को नहीं अपने सुमधुर पदों को भी उन्होंने ज़बान-ज़बान पर जड़-सा दिया। लोगों ने देखा कि हिन्दी-कविता में भी कितना रस है। सूर ने कृष्ण के रसात्मक जीवन के रस को कविता के पात्र में ढाल लिया। कविता कविता होगई। सूर के भाव-चित्रों को देखिये तो ज्ञात होगा कि हिन्दी-कविता में भाव-चित्रण कितनी कुशलता के साथ किया जा सकता है। सूर के साङ्गोपाङ्ग वर्णनों को देखिये तो हिन्दी-कविता की वर्णन-शक्ति का ज्ञान सहज ही में होजायगा। पद-लालित्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है।

दूसरी तरफ़ सं० १६३१ में तुलसीदासजी ने अपना अमर काव्य रामचरितमानस लिखा। उसमें हिन्दी-कविता मंत्र की तरह प्रभावशालिनी होगई है और अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त होगई है। उसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं, इसी से हम उसे नर-कृत रचना मानते हैं, अन्यथा वह तो दैवी रचना कहलाने के योग्य है। अकेले तुलसीदास जी सौ कवियों की शक्ति लेकर हिन्दी के मैदान में आये और उन्होंने हिन्दी-कविता को थोड़े ही दिनों में इतना आगे पहुँचा दिया कि मालूम पड़ने लगा कि हज़ार-दोहज़ार वर्षों तक दौड़ लगाकर तब हिन्दी-कविता इस रूप में यहाँ पर पहुँची होगी। धार्मिक क्षेत्र में तो तुलसी मुग़ल सम्राटों से अधिक शक्तिशाली साबित ही हुये, साहित्यक क्षेत्र में भी वे एक

दैवी शक्ति बनकर आये। जिस वस्तु को उन्होंने उठाया उसी में प्राण डाल दिया। सभी रसों में, सभी प्रचलित छन्दों में, सभी ज्ञात और अज्ञात शैलियों में, उन्होंने हिन्दी में कविता करके हिन्दी-कविता की क्यारी को सब तरह के देशी-विदेशी फूलों से सजा दिया।

तुलसी और सूर ही हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी रचनाओं की श्रेष्ठता के विषय में लोग इतना अधिक जानते हैं कि जो-कुछ भी लिखा जायगा वह थोड़ा ही जान पड़ेगा। जिस काल में ये लोग वर्तमान थे, वह काल भी हिन्दी-साहित्य के लिये अवश्य ही बहुत महत्त्वपूर्ण था। कविता तो उस काल में उच्चकोटि की हुई ही है, साथ-ही-साथ अधिक मात्रा में भी हुई है। अकेले सूर ने सूरसागर में सवालाख पद लिखे थे तुलसी ने रामचरित-मानस जैसा श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य लिखा। इसके अतिरिक्त विनय-पत्रिका, कवितावली और दोहावली आदि ग्रंथ भी लिखे।

यह वह समय था, जबकि भक्ति के क्षेत्र में अच्छे-से-अच्छे कवि मौजूद थे। मीराबाई अपने मधुर पदों से हिन्दी-कविता को लावण्य प्रदान कर रही थीं। उधर रसखान अपनी कविता के रस-कलश में से अमृत की बूँदें टपका रहे थे।—

'कानन दै अँगुरी रहिबो,
जबहीं मुरली-धुनि मंद बजैहै।
मंजुल तानिनि सों रसखानि,
अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि,
काल्हि कोऊ कितनौ समुझैहै।

माई री वा मुख की मुसकानि,
सम्हारी न जैहै, न जैहै, न जैहै ।।'

—सुजान-रसखान

× × ×

'या मुरली मुरलीधर की,
अधरान-धरी अधरा न धरौंगी।'

—सुजान-रसखान

कुम्भनदास, ध्रुवदास आदि सन्त भी इन्हीं दिनों काव्य-प्रदेश को रस-प्लावित कर रहे थे। एक तरफ़ तो यह भक्त कवियों का समूह था। दूसरी ओर कई अन्य मौजी कवि वर्तमान थे, जिनमें से कई तो अकबर के दरबारी थे, और कई फुटकर विषयों पर उच्च कोटि के कवि थे, जो किसी बन्धन में न थे।

गंग, नरहरि, रहीम, बीरबल और टोडरमल आदि अकबर के दरबार ही में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थे। ये सभी हिन्दी के अच्छे कवि थे। इन्होंने वीर रस और शृंगार रस की तो अच्छी कवितायें लिखी हीं, साथ-ही-साथ लोकनीति पर भी अच्छी रचनायें कीं। एक प्रकार से चारणों ने इस युग में कवि का अवतार लिया था। गंग हिन्दी का श्रेष्ठ कवि माना जाता है। रहीम हिन्दी के पहुँचे हुये कवि तो थे ही, कवियों के बड़े क़द्रदान भी थे। स्वयं अकबर के राज्य के उच्च पद पर रहने के कारण इनको सभी साधन प्राप्त थे। इन्होंने कवियों को खूब दान देकर प्रोत्साहित किया। तुलसी के प्रति भी ये बड़ा आदर-भाव रखते थे। थोड़े शब्दों में अधिक बात कहने की विशेषता मुख्यतः इन्हींकी रचनाओं में मिलती है। इनकी कई कवितायें खड़ीबोली

की कविताओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी खड़ीबोली का प्रचलन था, और वह एक उपेक्षित बोली नहीं समझी जाती थी। एक उदाहरण देखिये।—

'ज़रदबसनवाला गुलचमन देखता था।
झुक-झुक मतवाला गावता रेखता था॥
श्रुति युग चपला से कुंडलें झूमते थे।
नयनकर तमाशे मस्त ह्वै घूमते थे॥'

—मदनाष्टक

बीरबल और टोडरमल भी कवि और कविता-प्रेमी थे। सं० १६०२ के आसपास नरोत्तमदास मौजूद थे, जिन्होंने सुदामा-चरित-जैसा ललित खण्डकाव्य लिखा।

इन्हीं दिनों केशवदास जी ने भी अपनी रचनायें कीं। सं० १६१२ से सं० १६७४ तक उनका जीवन-काल माना जाता है। इन्हीं दिनों के बीच उन्होंने रामचन्द्रिका नामक प्रबन्ध-काव्य लिखा और कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया नामक दो लक्षण-ग्रंथ लिखे। रीति ग्रंथों के ये पहले लेखक हुये और जो काव्य-धारा सं० १७०० और सं० १९७१ के बीच में आगे चलकर बही, उसके ये अग्रदूत थे। अब कविता इतनी महत्त्वपूर्ण चीज़ होगई थी कि उसका रूप निर्धारित किया जाने लगा था।

सं० १६४६ के आसपास सेनापति कवि ने अपनी मुक्तक रचनाओं के द्वारा हिन्दी-कविता को काफ़ी सौन्दर्य प्रदान किया। मुबारक कवि भी इन्हीं दिनों हुआ। कविता दिन-प्रति-दिन सरस होने लगी और आसमान से उतर कर ज़मीन पर आने लगी।

मैंने इन कवियों का उल्लेख इसलिये कर दिया है कि इनके विषय में थोड़ी जानकारी होजाने से पाठक स्वयं हिन्दी-कविता की रफ़्तार का अन्दाज़ा लगा सकेंगे। ये सारे कवि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के भीतर ही हुये हैं। इनकी रचनाओं की श्रेष्ठता को देखते हुये यह मानना ही पड़ेगा कि इन दो-सौ वर्षों में हिन्दी-कविता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी! सभी श्रेणी और मत के लोगों में उसका प्रचार होगया था। उसका रूप इतना सुन्दर होगया था कि रहीम और रसखान मुसलमान भी उसपर रीझ गये थे। हिन्दी-कविता के कारण वे मुसलमान होते हुये भी कविता में कृष्ण-भक्ति का गान करते थे। इस काल में अच्छे-अच्छे प्रबन्ध-काव्य भी लिखे गये और मुक्तक रचनाओं की मुक्ताओं से तो साहित्य-समुद्र ही भर गया। अवधी तो आगे नहीं पनप सकी, पर ब्रजभाषा तो ख़ूब माँज उठी। आगे आनेवाले ढाई-सौ वर्षों में भी उसीने साहित्य की गद्दी पर राज्य किया। वास्तव में, ब्रज की भाषा में इतनी सुकुमारता है कि कवियों ने उसे काव्य की भाषा बनाने में बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया था। हिन्दी-कविता की प्रगति को आगे बढ़ाने में बहुत-कुछ हाथ ब्रजभाषा के स्वाभाविक माधुर्य का भी था। ब्रजभाषा के माधुर्य से प्रभावित होकर ही अधिकांश लोग हिन्दी-कविता की ओर आकर्षित हुये और अब भी होते हैं।

(४)

संवत् १७०० के आसपास से हिन्दी-साहित्य में एक दूसरी ही हवा बहने लगी। यह हवा संवत् १९७१ के आसपास तक चलती रही। यह रीतिकालीन कवियों का युग था। यही हिन्दी का सबसे वैभवशाली युग माना जाता है। इस समय के अधि-

कांश कवि रीति-ग्रंथ लिखने के बहाने श्रृङ्गार-रस आदि की कवितायें करते थे। बिहारी, मतिराम, भूषण, देव, भिखारीदास, तोष, दूलह, बेनी-प्रवीन और पद्माकर आदि का यही रचना-काल है। घनानन्द, वृन्द, बैताल, आलम, लाल, रसनिधि, गिरिधर कविराय, सूदन, दीनदयाल गिरि, द्विजदेव, तीनों ठाकुरों और हरिश्चन्द्र का भी यही रचनाकाल है। इन कवियों पर एक छोटे-से लेख में अलग-अलग कुछ लिख सकना असम्भव है। हम तो ख़ास तौर पर उसी रास्ते को देखेंगे जिसपर होकर हिन्दी की कविता गुज़री है। यह तो ऐसा समय था जबकि सभी रसों में सफलतापूर्वक कविता की जाने लगी थी। एक तरफ़ श्रृंगारी कवियों का बड़ा दल था; दूसरी तरफ़ भूषण, लाल और सूदन आदि वीर रस के कवियों का दल था; तीसरी तरफ़ वृन्द, बैताल, ठाकुर, गिरिधर कविराय और दीनदयाल गिरि आदि नीतिकारों का दल था; चौथी तरफ़ आलम, रसनिधि और हरि-श्चन्द्र आदि रसिकों का समुदाय था। चारों दिशाओं में हिन्दी की कविता-कौमुदी छिटक रही थी। कवियों का आदर बढ़ गया था।

यह वह समय था जबकि मुग़ल-साम्राज्य की सत्ता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। उसके अन्तिम दिनों की बात है; देश भर में विलासिता की वेगवती नदी उमड़कर बह रही थी। छोटे-मोटे राजे-महाराजे पड़े-पड़े ऐयाशी में दिन बिता रहे थे। शराब और वेश्या की तरह वे मनोरंजन के लिये कविता और शायरी को भी एक साधन बनाये हुये थे। कवियों ने भी ज़माने के रुख़ को पहचाना और उसीके अनुसार जामा पहना। वे भी राजाओं का रुख़ पहचानकर वैसी ही रचनायें करने लगे और

उनका मन बहलाने लगे। पूर्व-मध्यकाल के कवियों ने कविता को जो गंभीरता प्रदान की थी वह नष्ट होगई। कविता छोटे-मोटे राजदरबारों में वेश्या की तरह नचाई जाने लगी। कवियों ने इसे आमदनी का एक ज़रिया बना लिया। रीति-काल में भूषण के अतिरिक्त एक भी क्रान्तिकारी कवि नहीं पैदा हुआ। सब एक ही लकीर के फ़क़ीर थे। वे डूबना और डूबोना जानते थे, किसी डूबते हुये को बचाना नहीं जानते थे। हाथी-घोड़े बाँध रखने की भाँति रईस लोग एक कवि भी बाँध रखते थे। जैसा दरबार मिलता था, कवि की कविता भी उसी के अनुसार हो जाती थी। किसी विलासी का दरबार मिला तो कविता श्रृङ्गार रस में डूबकर मर गई। शिवाजी-जैसे किसी वीर का दरबार मिला तो कविता ढाल-तलवार लेकर खड़ी होगई। वास्तव में, कवियों का कोई अस्तित्त्व नहीं रह गया। वे तो ध्वनि-वर्द्धक यंत्र की तरह थे जिनके द्वारा राजदरबारों की मनोवृत्ति गुंजायमान होती थी। राजदरबारों में पलने के कारण उस समय की कविता राजदरबारों ही के उपयुक्त होगई है। ग़रीबों की प्यास उससे नहीं बुझ सकती। सूर-तुलसी तो ग़रीबों के कवि थे। हमारे ये रीतिकालीन कवि अमीरों के कवि थे।

रीतिकालीन कवि संसार को ख़ाला का घर समझकर आये। न इन्हें माँ से कोई मतलब था और न बहन से। ये तो कामिनी की लटों में उलझे रहते थे। इनकी रचनाओं में तात्कालिक वाह्य इन्द्रिय-जन्य-सुख की ओर संकेत है। इन्होंने कृष्ण को लोक-रक्षक के रूप में नहीं बल्कि उस रूप में देखा जिस रूप में संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि जयदेव ने देखा था। ये मुख्यतः चमत्कार-वादी कवि थे।

रीतिकालीन काव्यों में नायिका-भेद हैं, स्वकीया-परकीया के विवेचन हैं, उनकी गुप्त पाप-लीलायें हैं और वे बातें हैं जो किसी कोकशास्त्र में विशेष शोभा पासकती हैं। उनमें लम्बे-लम्बे ऋतु-वर्णन हैं, संयोग-वियोग वर्णन हैं और राजाओं के पराक्रम एवं उनके हाथी-घोड़ों के वर्णन हैं। इन कविताओं में वास्तविकता कम है और अतिशयोक्तियों की भरमार है। इनमें दिल दहलाने वाले विरह-वर्णन हैं और कल्पना से परे कृशांगी नायिकाओं के शरीर-वर्णन हैं। अधिकांश कवितायें भावावेश में नहीं बल्कि काव्य-कौशल-प्रदर्शनार्थ लिखी गई हैं। कविता अलंकारों से दबी हुई है। उसके साथ बलात्कार किया गया है। उसमें अस्वाभाविकता बहुत है। कवियों की नायिकायें एक मज़ाक की चीज़ बन गई हैं। वे विरह से चाहे जितना तड़पें, पर पाठकों की सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकतीं।

रीति-काल में शब्दों और भावों की परिधि भी बहुत सीमित हो चली थी। भाषा तो बिल्कुल तोड़-मरोड़ उठी थी। दावात को दोत, उदधि को दधि, गुप्त को गुप्रित्र, लटकी है को लटीकी है, घूँघट को अरगट (आड़+गात्र), तो अब को तौब लिखना क्षम्य समझा जाता था। 'सु' और 'कु' तो जिस शब्द के आगे जोड़ना चाहते थे, कवि लोग निडर होकर जोड़ देते थे। 'सु', 'कु' की बहार देखनी हो तो जोधराज-कृत हम्मीर-रासो और पद्माकर-कृत रामरसायन में देखिये। एक-एक पद्य में पाँच-पाँच व्यर्थ के 'सु' चिपके हुये हैं। देशों के विषय में कुछ लिखना हुआ है तो इन कवियों ने खुरासान, बलख-बुख़ारा, गज़नी और रूम का नाम अवश्य गिनाया है। ईश्वर का जहाँ भी स्मरण करना हुआ है सुदामा, शबरी, अजामिल, गीध, अहिल्या, गणिका,

गज, प्रह्लाद कवियों के सामने पहले आखड़े हुये हैं। इनका इतना उल्लेख कविता में हुआ है कि इन नामों को सुनने से भी चिढ़ होती है। राजा जहाँ घोड़े पर चला कि धरा धसकने लगी, कच्छप की पीठ कसकने लगी और शेष के फण मसकने लगे। नायिका-भेद की उपमायें भी गिनी-गिनाई हैं। सबने अपने पूर्व-वर्ती कवियों से कुछ-न-कुछ सामग्री ज़रूर चुराई है।

उस समय तो कविता एक खिलौना-सी बन गई थी। समस्यायें दी जाती थीं, जिनपर कवि लोग अपनी अक़्ल को ख़ूब घिसते थे। 'भानुतनया पै वृखभानुतनया चली' और 'पावक पुंज में पंकज फूल्यो' जैसी समस्याओं को लेकर बीसों कवि उलझे रहते थे। बहुत-से 'सेज पै पौढ़ने के दिन आये' में अपनी कारीगरी दिखाते थे। बहुत-सी समस्यायें तो बिल्कुल बेसिर-पैर की होती थीं। जैसे—

'धूतन के द्वारे कबौं मूतन न जायेंगे।'

इसका कोई ठीक-ठीक अर्थ ही नहीं निकलता। क्या कवियों का कोई पेशा था कि वे रोज़ सबके दरवाज़े पर मूत आया करें? क्या वे अमृत या शरबत मूतते थे? जिससे नाराज़ होते थे उसके दरवाज़े पर मूतना बन्द कर देते थे। इससे तो धूर्त ही मज़े में रहे होंगे क्योंकि उनका दरवाज़ा साफ़-सुथरा बना रहता होगा और सज्जनों का दरवाज़ा नाबदान बन जाता रहा होगा।

समस्यापूर्ति का रोग बहुत बढ़ गया था, इससे कविता में कृत्रिमता भी बहुत आगई थी। लोग ललकार-ललकार कहते थे।—

'दीजिये समस्या तापे कवित्त बनावें झट,
कलम रुकै तो कर कलम कराइये।'

ऐसे जादूगरों से कविता का कुछ विशेष उपकार नहीं हुआ। उलटे उसकी क़ीमत घट गई। जिसे देखिये वही टूटी-फूटी भाषा में दो-चार समस्यायें पूरी करके कवि बना हुआ था। परिणाम यह हुआ कि लोगों को कविता से अरुचि होगई। कवियों का विशेष सम्मान भी न रह गया। वे इधर-उधर धक्के खाने लगे। रीतिकाल के प्रारंभिक कवियों का तो बड़ा सम्मान हुआ था। वे लोग राजा-महाराजा की तरह रहते थे। भूषण की पालकी में स्वयं छत्रसाल ने अपना कंधा लगाया था। मतिराम, बिहारी आदि ने भी काफ़ी राज-सम्मान पाया था। आगे चलकर पद्माकर को भी राज-वैभव प्राप्त हुआ और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि।—

इन्द्र-पद छाँड़ि इन्द्र चाहत कविन्द्र-पद,
चाहै इन्दरानी कबिरानी कहवाइबो।

—पद्माकर

परन्तु जब सभी कवि बनने लगे तो कवियों की क़ीमत भी दो कौड़ी की होगई। कोई उनकी क़द्र करनेवाला न रह गया। उन्हें खिसियाकर लिखना पड़ा।—

'घर ते कढ़े न कवि आये सुनि द्वार, ऐसे
पाजिन के मुख में पेसाब करि देनो है।'

—अज्ञात

अवश्य ही रीतिकाल की कविता का वायुमंडल बहुत दूषित है। उसमें 'दिमाग़ी-ऐयाशी' बहुत की गई है। कृष्ण को कवियों ने बिलकुल एक मुसलमान गुण्डा बना डाला है। पर क्या उस समय की कविता में कुछ विशेषतायें नहीं हैं? अवश्य हैं। रीति-

काल की कविता के रूप में हिन्दी कविता-रूपी नायिका ने खूब शृङ्गार किया है। हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों का एक बहुत बड़ा समुदाय इन्हीं दो-ढाई सौ वर्षों के बीच में हुआ है। देव, बिहारी, मतिराम, भूषण और पद्माकर आदि ने हिन्दी में बहुत ऊँचे दरजे की कविता की है। इनकी कविताओं में भाषा और भाव दोनों का सुन्दर विकास हुआ है। इनकी अधिकांश रचनायें भी बहुत स्वाभाविक हुई हैं। देव भाषा पर विशेष अधिकार रखते थे; बिहारी बड़े कलाविद् थे; मतिराम बड़े सूक्ष्म-दर्शी थे और भूषण तो रीति-काल के कीचड़ में कमल ही थे। पद्माकर भी किसी से कम नहीं थे। इन कवियों ने भाषा-साहित्य को काव्य-धन से परिपूर्ण कर दिया।

रीति-काल में भी खड़ी-बोली मौजूद थी। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भूषण हुये थे। उनकी रचनाओं में कई जगह खड़ीबोली के दर्शन होते हैं। जैसे निम्नलिखित उद्धरणों में देखिये—

'अफ़ज़लखान को जिन्होंने मैदान मारा'

—भूषण

× × ×

'अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती हैं'

—भूषण

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में सूदन ने सुजान-चरित लिखा। उसमें भी यत्र-तत्र खड़ी-बोली का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण देखिये—

'चलना मुझे तो उठ खड़ा होना देर क्या है ।'

—सुजानचरित

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों में आकर तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथों खड़ी-बोली को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। उन्होंने स्वयं भी खड़ी-बोली में रचना की, पर बहुत कम। भारतेन्दु ने कविता के भावों में भी परिष्कार किया और अंधकार में से निकलकर प्रकाश में खड़े होने के लिये भी उपदेश दिया। उन्होंने स्वयं भी कुछ राष्ट्रीय कवितायें लिखीं। उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य में एक नये युग की स्थापना हुई, पर हिन्दी-कविता ने अपना मार्ग विशेष रूप से नहीं बदला। कविता का प्रवाह तो निश्चित् रूप से सं० १६७१ के आसपास आकर बदला जबकि पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का प्रिय-प्रवास प्रकाशित हुआ। इसीलिये हम हरिश्चन्द्र को सरहदी कवि न मानकर अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' को सरहदी कवि मानते हैं। हाँ, हम हरिश्चन्द्र को सरहदी साहित्यिक अवश्य मानते हैं। यह भी मानते हैं कि, आधुनिक कवियों के लिये मार्ग तैयार करने का मुख्य श्रेय उनको भी है। यह स्मरण रखना चाहिये कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-कविता एक प्रकार से समानार्थी थे क्योंकि तब हिन्दी-साहित्य में कविता ही कविता थी। भारतेन्दु के समय से साहित्य के अन्तर्गत अन्य विषयों का समावेश हुआ और कविता उसके अन्तर्गत आगई।

(५)

पिछले युग में पाठकों ने देखा होगा कि हिन्दी-कविता की प्रगति तो अवश्य बड़ी तीव्र थी क्योंकि अनेक विषयों के अनेक

कवि उसे आगे की तरफ़ ठेल रहे थे, पर कविता को आगे बढ़ने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। बहुत कंटकाकीर्ण पथ पर से होकर उसे जाना पड़ा था और उसकी साड़ी कई जगह काँटों में उलझकर फट गई थी। और बहुत तेज़ चलने के कारण उसके मुख की श्री भी कुछ मंद पड़ गई थी। कविता ने उस मार्ग को छोड़कर एक नया मार्ग पकड़ा। अब हम उस नये मार्ग के विषय में कुछ लिखेंगे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस देश में अँगरेज़ों की प्रभुता स्थापित हो चुकी थी। देश में एक नई जाति, एक नई सभ्यता, एक नई रहन-सहन, एक नई रोशनी, एक नई राजसत्ता और एक नई समस्या, एक नया साहित्य और एक नई ज़िन्दगी, ये सब चीज़ें आगई थीं। विलासिता का अन्त होरहा था; लोग पुरानी नींद से उठ रहे थे और धीरे-धीरे योरप की ओर आकर्षित हो रहे थे। यह जागरण का युग था। बारूद तैयार थी, आग की देरी थी। वह आग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रूप में बीसवीं शताब्दी के बाल्यकाल में प्रकट हुई।

समय बदल गया। हरिश्चन्द्र ने साहित्य में नये-नये विषयों का प्रवेश किया। कविता से लोग कुछ कुछ ऊबे तो थे ही, उन्होंने गद्य आदि की ओर क़दम बढ़ाया। हरिश्चन्द्र ने ख़ुद बहुत अधिक मात्रा में कविता की पर वे ज़्यादातर उन्हीं पुराने विषयों ही को रगड़ते रहे। दूसरे, उनकी कविता भी बहुत उच्चकोटि की नहीं हुई। हरिश्चन्द्र के बाद ब्रजभाषा का प्रकाश मन्द पड़ गया। फिर तो केवल दो कवि ब्रजभाषा में हुये—सत्यनारायण और जगन्नाथ दास 'रतनाकर'। रतनाकरजी के साथ ब्रजभाषा का समुद्र सूख गया।

हरिश्चन्द्र के समय से ही खड़ीबोली खड़ी होने लगी थी। श्रीधर पाठक ने भी खड़ीबोली में कुछ रचनायें कीं, और खड़ी-बोली का प्रथम कवि होने का गौरव प्राप्त किया। मुझे तो श्रीधर पाठक की रचना में एक भी ऐसा गुण नहीं मिला कि मैं उन्हें खड़ी-बोली का प्रथम कवि स्वीकार करूं। मेरी राय में प्रिय-प्रवास-कार को खड़ीबोली का प्रथम कवि मानना चाहिये। उनके पहले के खड़ीबोली के कवि वैसे ही हैं, जैसे चन्द के पहले के चारण कवि।

ख़ैर, बोली में तो जो परिवर्तन हुआ सो हुआ ही, भावों में पहले से ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ होगया। पहले व्यर्थ की कल्पना की उड़ानें भरी जाती थीं, अब लोगों ने सत्य की ओर ध्यान दिया। पहले लोग देव, गंधर्व, किन्नर और यक्ष को अधिक महत्व देते थे अब वे मनुष्यों ही को श्रेष्ठ समझने लगे। घने कुंजों से निकलकर कवि लोग मनुष्यों की बस्ती में आये जहाँ उन्हे वह बेशर्मी करने का मौक़ा न मिला जिसे वे रीति-काल में कर सकते थे। वे अब काफ़ी शिष्ट होगये।

कवियों ने रङ्गमहलों को छोड़कर राष्ट्र और समाज के क्षेत्र में पदार्पण किया। रीतिकालीन कवियों के महा विलासी कृष्ण ने हरिऔधजी के प्रियप्रवास में लोकरक्षक के रूप मे अवतार लिया। कुंजों में विलास करनेवाली राधा प्रियप्रवास में 'श्रीमती' बना दी गई। कविलोग महलों में से निकलकर झोपड़ियों में आबसे और ग़रीबों की खोज-ख़बर लेने लगे। राष्ट्रीयता के भावों के प्रचार के साथ-साथ कविता में भी राष्ट्रीय भावों का तूफ़ान आगया। आज का फूल भी किसी कामिनी

के केश-कलाप का सौन्दर्य नहीं बढ़ाना चाहता। वह तो प्रार्थना करता है कि।—

'मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥'

—एक भारतीय आत्मा

आज की बहनें भी भाइयों के पास हथकड़ियों की राखी भेजना चाहती हैं।—

'आते हो भाई? पुनः पूछती हूँ,
कि माता के बन्धन की है लाज तुमको।
तो बन्दी बनो, देखो बन्धन है कैसा,
चुनौती यह राखी की है आज तुमको॥'

—सुभद्राकुमारी चौहान
(मुकुल)

आज का मृग भी जीते-जी शिकारी के आधीनस्थ होकर नहीं रहना चाहता, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है। वह कहता है।—

'जीते-जी स्वतंत्रता न छीनो हे बधिक, बस,
एक तीर मार दो कलेजे से निकल जाय।'

—अनूप

आधुनिक कविता में दुःखी-दीनों की आहें सुनाई पड़ने लगी हैं। ईश्वर का निवास-स्थान भी वृन्दाबन के कुंजों में नहीं बल्कि दीन-दुखियों के बीच में माना जाने लगा है।—

'पर हरि के पद-पद्म कहाँ हैं,
क्या सरिता के सुन्दर तट पर ?
नहीं; निराशा नाच रही है,
जहाँ भयानक भूरि भेस धर ॥
निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं,
बैठे चिन्ता-मग्न दीनजन ।
उनके मध्य खड़े हरि के,
पद-पंकज के मिलते हैं दर्शन ॥'

—रामनरेश त्रिपाठी

आज का कवि तो दीनों के किसी काम आने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है।—

'मानते विधाता का बड़ा ही उपकार हम,
होते गाँठ के धन कहीं जो दीनजन के।'

—रामनरेश त्रिपाठी

आधुनिक कविता में ग्रामीण जीवन और ग्रामीण जनता के प्रति कवियों की काफ़ी सहानुभूति देखने को मिलेगी। कवि लोग उनकी भी खोज-खबर लेने लगे हैं।—

'ओ गाँव से आनेवाले बता, अब भी क्या वहाँ कहीं पेड़-तले।
करुणा-की-सी मूरत कोई कहीं, मिलती है अकेली चिराग़-जले ॥
दिल में जो किसी का जलाये दिया, उस राह को देखती हैं जिससे।
कहीं पेट की आग बुझाने गये, निरमोही पिया घर छोड़ चले ॥'

—रामनरेश त्रिपाठी

यह जागृति का युग है। इसमें लोगों में नये-नये जोश लहरा रहे हैं और वे कविता के रूप में प्रकट भी होरहे हैं। अब

हम नारी के बाह्य-सौन्दर्य को नहीं देखते । हम तो उसके आन्तरिक सौन्दर्य को देखते हैं। हम उसके भीतर मातृत्व की भावना का दर्शन करते हैं। हम उसकी करुणाजनक स्थिति को देखते हैं। हम उसके हृदय की वीरता और त्याग को देखते हैं। आज का कवि गोपियों की रति-क्रीड़ा नहीं देखता। वह तो 'झाँसी की रानी' का यश-गान करता है। वाराङ्गनाओं को छोड़कर वह वीराङ्गनाओं की उपासना करता है। मैं कह चुका हूँ, यह जागृति का युग है ।

आज का कवि प्रकृति का सौन्दर्य देखने के लिये बहुत दूर नहीं जाता। वह तो अपने ग्रामों ही में गेहूँ, चना, मटर और जौ के खेतों में प्रकृति का निखरा हुआ सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाता है। अब कविता हमारे बहुत निकट आगई है; वह खद्दर-पोश होगई है।

यह मैं उस ज़माने की कहानी लिख रहा हूँ, जिस ज़माने में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, ठाकुर गोपालशरण सिंह और बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचनायें की हैं। उपाध्यायजी अपने काव्यों में लोक-सेवा का भाव लेकर आये। उनकी कृति प्रिय-प्रवास खड़ीबोली की सर्वश्रेष्ठ कृति है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी अपने प्रबन्ध-काव्यों में राष्ट्रीयता और आत्म-बलिदान का भाव लेकर आये। ठाकुर गोपाल शरणसिंह माधवी के रूप में तो मधुर-भाषा और सरस भाव लेकर ही आये थे, पर उन्होंने ज़माने के रुख़ को भी पहचान लिया और शीघ्र ही वे 'मानवी' के रूप में समाज के अनुकूल बनकर आये। गुप्तजी बड़े ज़ोर-शोर से सामयिक भावों को लेकर आगे बढ़े। इस समय में खड़ी-बोली की भाषा में काफ़ी

सफ़ाई होगई और भावों का क्षेत्र भी बिलकुल नया हो गया। कविता की अलौकिकता लौकिकता में बदल गई। रतनाकर जी-जैसे पुराने टाइप के कवि भी समय की लहर में बह चले और 'भारत-गयन्द को गुपाल भयो गाँधी है' आदि लिखने लगे।

कविता का इतना विकास तो हुआ, पर उसकी चाल इधर कुछ वर्षों से धीमी पड़ गई है। यह युग कविता के अनुकूल नहीं पड़ा है। साहित्य राजनीति में डूब गया है। भाषा साहित्य से छीन ली गई है। वह राजनीति की चीज़ होगई है। हिन्दी और उर्दू का ज़बर्दस्ती मेल कराकर उसे हिन्दुस्तानी का रूप दिया जारहा है। अब हमारा साहित्य-पुरुष एक तरफ़ तो गोहत्या करायेगा और दूसरी ओर चोटी रक्खेगा और जनेऊ धारण करेगा। गुलाब के पौधे में फ़ारस देश के किसी पौधे की क़लम लग रही है। गद्य के इस युग में लोग पद्य को एक फ़िज़ूल की चीज़ समझने लगे हैं। वे अब अनुभव करने लगे हैं कि कविता के सहारे वे संसार में आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि कविता विज्ञान से परास्त हो चुकी है। वे अब स्पष्ट शब्दों में कहते हैं।—

'सदा दूसरों के सुख-दुःख की,
　　निष्फल चर्चा में रत रहकर।
कवि-का-सा-कुत्सित जीवन मैं,
　　क्यों व्यतीत करता हे ईश्वर !!'

—रामनरेश त्रिपाठी

कविता की रफ़्तार धीमी पड़ने का एक मुख्य कारण यह भी है कि कविलोग ज़रूरत से ज़्यादा सामयिक होगये हैं।

वे पद्य-रचना-मात्र को कविता समझने लगे हैं। वे कलापूर्ण भावों को छोड़कर सीधे-सादे शब्दों में देश-सेवा आदि का उपदेश देने लगे हैं।—

'करो तुम मिल-जुलकर व्यापार।
देखो होता है कि नहीं फिर भारत का उद्धार।'
—मैथिलीशरण गुप्त

हिन्दी-कविता के मार्ग में सबसे बड़े बाधक तो छायावादी कवि हो गये हैं। जब से गंगा की गैल में ये मदार के गीत गाने वाले आगये हैं, तब से हिन्दी-किविता की प्रगति बहुत धीमी पड़ गई है। इन लोगों ने कविता को बड़े भ्रम-जाल में डाल दिया है। जिस तरह देहाती लड़के माँ-बहन की ऐसी-ऐसी गालियाँ देते हैं जिन्हें वे समझते भी न होंगे, वैसे ही ये छायावादी भी ऐसी-ऐसी कवितायें लिखते हैं, जिन्हें वे शायद खुद भी न समझते होंगे। ये लोग बे-सिर-पैर की कवितायें लिखते हैं और उनके अर्थ न समझने का दोष पाठकों पर लादते फिरते हैं। शायद वे इस बात को नहीं जानते कि 'यह वक्ता ही की जड़ता है कि श्रोता न समझ सके।'

'वक्तुरेवहितज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते।'

ये छायावादी लोग सारी रात मिमियाते हैं और सुबह देखिये तो एक ही बच्चा पैदा हुआ मिलता है। ये लोग शब्दों का खूब लम्बा-चौड़ा घटाटोप खड़ा कर देते हैं; उसमें गहराई तक जाइये तो मुश्किल से कोई साधारण-सा भाव मिलेगा। बहुतों में तो यह साधारण-सा भाव भी नहीं मिलता। अगर मिल जाय तो समझिये कि हिंजड़े के घर बेटा हुआ। ये लोग अँधेरी रात में काला तिल बीनते हैं।

छायावाद की कविता को मथने का प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि पानी को मथकर कोई घी नहीं निकाल सकता। 'नग्ने क्षपणके देशे रजकः किं करिष्यति।' नग्न क्षपणकों के देश में धोबियों का क्या काम? छायावादियों के ज़माने में आलोचकों की क्या ज़रूरत? ये बहुसंख्यक लम्बे-लम्बे केशों से युक्त और मूछों से रहित घटमान लोग ढाई दिन की बादशाहत करके चले जायँगे, पर शायद हिन्दी-कविता के रूप को हमेशा के लिये बर्बाद कर जायँगे। इनके लिये तो मुझे रहीम की जीभ अपने मुँह में लगाकर यही कहना पड़ता है कि—

'रहिमन अब वे बिरछ कहँ, जिनकी छाँह गँभीर।
बागन बिच-बिच देखियत, सेहुँड़, कंज, करीर॥'

—रहीम

एक दूसरी प्रकार की कविता का प्रचार इन दिनों और होने लगा है। इसके मुख्य प्रचारक 'बच्चन' नामके एक कवि महाशय हैं जो रूप, रंग और गुण सभी बातों में छायावादियों से मिलते-जुलते-से हैं। ये हाला-प्याला और मधुशाला लेकर कविता के मंदिर में आये हैं। बहुत-से लोगों ने इनका स्वागत भी किया है और अनुकरण भी किया है। आजकल ये बाल-साहित्यिकों के चन्द्र-खिलौना होरहे हैं। मैं तो बच्चन की सारी कविता को पढ़ गया, पर उसके बीच में मुझे वे स्वयं खड़े हुये नहीं मिले। उसके पीछे तो मुझे किसी और का भूत खड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। उन कविताओं में मुझे बच्चन का धड़कता हुआ दिल नहीं सुनाई पड़ा। इस प्रकार के कवि कविता लिखते समय शायद यह बात भूल जाते हैं कि वे भारतवर्ष

में बैठकर हिन्दीवालों के लिये कविता लिख रहे हैं। बुलबुल का गीत भारतवर्ष में गाना व्यर्थ है। मैंने कहीं पढ़ा है कि वह बुलबुल दूसरा होता है जिसकी तारीफ़ फ़ारसी के कवियों ने की है। वह मध्य और पश्चिमी एशिया में होता है। नरगिस पर लिखने की अपेक्षा गेंदा या सरसों पर लिखना अधिक अच्छा है क्योंकि वह हमारे अधिक निकट है और हम उसे रोज़ देखते हैं।

छायावाद के इस तिमिरावृत कानन में दो ही दीपक टिमटिमा रहे हैं—पंडित सुमित्रानन्दन पन्त और श्रीमती महादेवी वर्मा। पंडित सुमित्रानन्दन पंत ने पल्लव में अच्छी रचना की है। श्रीमती वर्मा ने भी हिन्दी में काफ़ी वेदना-पूर्ण गीत लिखे हैं। हिन्दी के काव्य-साहित्य में मैं इनका बहुत ऊँचा स्थान स्वीकार करता हूँ। छायावाद के विरोध में जब मैं कुछ लिखता हूँ तो उसका यह अर्थ नहीं कि मैं पल्लव के कवि पंत के विषय में लिख रहा हूँ या हिन्दी की सुप्रसिद्ध काव्य-लेखा श्रीमती वर्मा के सम्बन्ध में कुछ लिख रहा हूँ। मैं उन बहुसंख्यक छायावादियों के विषय में लिखता हूँ जो आजकल हिन्दी-कविता की बागडोर अपने हाथ में लिये हुये हैं। उनमें से एक पल्लव के बादवाले पंडित सुमित्रानन्दन पंत भी हैं। ये लोग अपनी लगाई हुई आग में ख़ुद ही कूदकर प्राण गँवा रहे हैं।

हमारे चारोंतरफ़ इतनी अधिक कविता होगई है कि हमारा जीवन उसके नीचे दब-सा गया है। हम उससे ऊब-से गये हैं और हवा बदलने के लिये अन्य विषयों में प्रवेश कर रहे हैं। इधर कुछ वर्षों से लोग कविता की तरफ़ से ध्यान हटा-

हिन्दी-कविता के श्रेष्ठ ग्रन्थ

(१)

हिन्दी-साहित्य में कविता के उच्चकोटि के इतने अधिक ग्रंथ हैं कि कम-से-कम उँगलियों पर तो वे एक बार में नहीं गिनाये जासकते। उनमें से कई तो ऐसे हैं कि जिनपर सैकड़ों पृष्ठों के अनेक ग्रंथ निकल चुके हैं और रोज़ नये-नये निकलते जारहे हैं; फिर भी अभीतक लिखनेवालों की सामग्री समाप्त नहीं हुई है। लोग ज्यों-ज्यों उन्हें पढ़ते हैं, त्यों-त्यों उन्हें उनमें नवीनता मिलती जाती है। जो ग्रंथ आज से सदियों पहले लिखे गये थे वे आज भी हमें बिल्कुल नये-से लगते हैं। शायद सदियाँ बीत जायँ तब भी लोगों को उनमें नवीनता ही मिलेगी। लोग ज्यों-ज्यों उनको पढ़ते जायँगे त्यों-त्यों उनका सौन्दर्य निखरता जायगा।

हमारे साहित्य में कई ऐसे ग्रंथ हैं जो संसार-साहित्य के अच्छे-से-अच्छे ग्रन्थों के मुक़ाबले में अभिमानपूर्वक रक्खे जासकते हैं। तुलसीदास का रामचरित-मानस हिन्दी-कविता के गौरव-स्तंभ की तरह हमारे साहित्य-प्रदेश में खड़ा हुआ है। समस्त भारतीय साहित्य में वह एक अपूर्व रचना है। न उसके पहले वैसा कोई ग्रंथ था और न उसके बाद वैसा कोई ग्रन्थ बन सका। उसमें हिन्दी-कविता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। वन-

पर्वत, जल-स्थल, ग्राम-नगर, महल-झोपड़ी जहाँ से भी जो-कुछ काव्योपयोगी सामग्री मिली है उसको तुलसी ने एक रंक की तरह बटोरकर एक राजा की तरह दान कर दिया है।

सूरदास के सूर-सागर के विषय में भी कुछ लिखना व्यर्थ है। वह भाषा-साहित्य की एक अद्भुत रचना है। मनुष्य-हृदय के कोमल भावों का ऐसा सूक्ष्म चित्रण शायद ही कहीं देखने को मिले, जैसा सूर-सागर में मिलता है। इसकी कविता में भाषा और भाव एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुये नज़र आते हैं। सूर-सागर की कविता में शरीर को रोमाञ्चित करने की और हृदय की गति को तीव्र करने की जो विद्युत्-शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

इसी प्रकार बिहारी की सतसई को ले लीजिये। यह शृंगार-रस की कविता की एक देदीप्यमान मणि है। छोटे-छोटे दोहों में कला की जो बारीकी दिखाई गई है, वह दर्शनीय है।

कबीर का बीजक भी हिन्दी की एक अमूल्य सम्पत्ति है। उसमें यद्यपि सर्वत्र उच्चकोटि की कविता के दर्शन नहीं होते, परन्तु जहाँ होते हैं वहँ बहुत ही भव्य रूप में होते हैं। उस स्थल पर मनुष्य के हृदय पर आघात करनेवाली सुन्दर-से-सुन्दर सूक्तियाँ मिलती हैं और इसमें शक नहीं कि वे किसी भावुक-हृदय पर मंत्र की तरह प्रभाव डालती हैं। बीजक की रचना में भाषा का चाहे जितना भी विकृत रूप नज़र आये, पर इसमें ज़रा भी शक नहीं कि मनुष्य के मर्म-स्थल तक पहुँचने की शक्ति उसमें अवश्य है।

सेनापति का कवित्त-रत्नाकर और देव कवि के रस-विलास और भवानी-विलास तथा पद्माकर का जगद्विनोद भी हिन्दी की

कम मूल्यवान् चीज़ें नहीं हैं। कविता की निर्झरिणी इनमें अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रवाहित मिलती है।

हिन्दी का सबसे पहला प्रबन्ध-काव्य पृथ्वीराज-रासो भी हिन्दी-काव्य-साहित्य का एक श्रेष्ठ ग्रंथ है। हिन्दी-कविता की वर्णन-शक्ति देखनी हो तो 'रासो' पढ़िये। इस ढाई-हज़ार पृष्ठों के विशाल-काय ग्रंथ में बीसों बड़े-बड़े युद्धों का विस्तारपूर्वक वर्णन है, पर सब में नवीनता है। एक की बातें दूसरे में नहीं आने पातीं। इसी प्रकार प्रभात, उपवन और मृगया आदि के सैकड़ों वर्णन हैं, पर सब अपनी स्वतंत्र सत्ता लिये हुये हैं। शृङ्गार-रस का भी इतना विशद वर्णन अन्यत्र देखने को न मिलेगा।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दी में और भी कई उच्चकोटि के काव्य-ग्रंथ हैं, जिनपर हम कुछ विस्तार-पूर्वक लिखेंगे। उपरोक्त ग्रंथों का मैंने एक प्रकार से उल्लेख-मात्र कर दिया है क्योंकि इतने छोटे-से लेख में उनकी श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराना कठिन ही नहीं असंभव है। उनपर हम इस पुस्तक के अगले भाग में कुछ प्रकाश डालेंगे, जबकि हमें हिन्दी-कवियों पर विस्तार-पूर्वक कुछ लिखने का अवसर मिलेगा। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम यहाँपर हिन्दी के कुछ अन्य श्रेष्ठ ग्रंथों का परिचय देते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर नहीं हुआ है।

(२)

सबसे पहले हम रामचन्द्रिका को लेते हैं। यह कवि केशव-दास-कृत एक महाकाव्य है। इसमें कुल उन्तालीस 'प्रकाश' हैं जिनमें रामायण की कथा वर्णित है। इसकी रचना संवत् १६५८ में हुई है। केशवदास ने जानबूझकर इसे महाकाव्य का रूप

दिया है और इसमें शक नहीं कि ऊपर से महाकाव्य के सभी लक्षण इसमें मिलते हैं।

रामचन्द्रिका का सारा मज़ा उसके लम्बे-चौड़े वर्णनों में और ओजपूर्ण संवादों में है। वास्तव में, इन दो गुणों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में और कुछ नहीं है। ये ही दो स्तंभ हैं जिनपर रामचन्द्रिका की महानता अवलम्बित है। पहले हम रामचन्द्रिका की त्रुटियों पर कुछ लिखकर तब उसकी विशेषताओं पर कुछ लिखेंगे।

लोग कहते हैं कि इसकी कथा श्रृङ्खला-बद्ध है; पर मुझे तो वह स्थान-स्थान पर टूटी हुई मालूम पड़ती है। वर्णनों की बाढ़ में और तरह-तरह के छोटे-बड़े छंदों की उथल-पुथल में काव्य की कथा तो खो-सी गई है। प्रारंभ ही से ऐसा ज्ञात होने लगता है कि यह प्रबन्ध-काव्य न होकर कोई पिंगल-ग्रंथ है।

रामचन्द्रिका में कवि का दिमाग़ बोलता है, दिल नहीं बोलता; कविता का आन्तरिक सौन्दर्य कम देखने को मिलता है। हाँ, उसके वाह्य रूप को कवि ने ख़ूब सजाया है। वास्तव में, केशव ने कविता-कुमारी के साथ वृद्ध-विवाह किया है। जिस तरह धनी बुढ्ढे षोडशी कुमारियों को व्याहकर लाते हैं और उन्हें ख़ूब चमकीले-दमकीले वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके सोचते हैं कि इससे वे स्त्री को रिझा लेंगे, वैसेही केशव ने किया है। जिस तरह पचास वर्ष का बुड्ढा किसी कुमारी के हृदय को तृप्त नहीं कर सकता, उसी तरह केशव भी हिन्दी-कविता को तृप्त नहीं कर सके हैं। उन्होंने कविता-कामिनी को अच्छे-से-अच्छे अलङ्कारों से लाद तो दिया; पर कविता में वे प्राण

न डाल सके। उनका आदर्श ही यह था कि 'भूषन बिनु न बिराजई, कबिता बनिता मित्त।'

मुझे तो रामचन्द्रिका की कविता बड़ी कृत्रिम जान पड़ती है। जिस तरह राजदरबारों में ऊपरी क़ायदे-क़ानूनों की होशियारी के साथ पाबन्दी की जाती है, वैसे ही केशव ने भी साहित्य के दरबार में कविता के ऊपरी क़ायदे-क़ानूनों की पाबन्दी भर कर दी है। उन्होंने उसके रङ्गमहल में प्रवेश करने का कष्ट नहीं उठाया है।

रामचन्द्रिका के कवि केशवदास राजकवि थे। हमेशा ठाट-बाट से रहते थे और राज-सुख का भोग करते थे। वे तुलसी की तरह साधारण जनता के बीच में नहीं रहते थे कि खोह-कगारों से भी परिचित रहते और ग्राम-बधूटियों के मनोभावों से भी परिचित होते। तुलसी और केशव एक ही समय में हुये। दोनों ने एक ही विषय पर कलम चलाई है। पर तुलसी का बड़प्पन इनमें कहाँ है! तुलसी के काव्य के आगे इनका काव्य आम के आगे अमरूद-जैसा लगता है। तुलसी ग़रीब थे तो क्या हुआ; बड़े कलाविद् थे, संगीतज्ञ थे, शास्त्रज्ञ थे, भावुक थे, नीतिज्ञ थे और फ़र्स्टक्लास के काव्य-शिल्पी थे। उनको साधन नहीं प्राप्त थे, फिर भी वे ख़ूब उठे। केशव एक ही परिधि के भीतर रह गये। राजमहलों से बाहर निकलकर जन-साधारण की दुनिया का वैभव देखने का सौभाग्य उन्हें नहीं प्राप्त हुआ।

केशव अच्छे कलाविद् नहीं थे। वे मनुष्य के मन की विविध दशाओं से बिल्कुल परिचित नहीं थे। कथा-प्रसङ्ग में तो वे मौक़े से लाभ उठाना बिल्कुल जानते ही न थे। राम को राज्य देने के पहले तुलसीदास एक छोटी-सी घटना का उल्लेख करते हैं।—

'एक समय सब सहित समाजा।
राज-सभा रघुराजु बिराजा॥

... ...

... ...

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा।
बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा॥
स्रवन-समीप भये सित केसा।
मनहु जरठपनु अस उपदेसा॥
नृप जुबराजु राम कहँ देहू।
जीवन जनम लाहु किन लेहू॥'

—अयोध्याकाण्ड

केशवदास इस अवसर की विशेषता की ओर कुछ भी ध्यान न देकर गिने-गिनाये शब्दों में लिख देते हैं—

'दसरत्थ महा मन मोद रये।
तिन बोलि बशिष्ठ सों मंत्र लये॥
दिन एक कहो सुभ सोभ रयो।
हम चाहत रामहिं राज दयो॥'

—रामचन्द्रिका

अब दोनों वर्णनों की तुलना कीजिये। केशव ने बेगार टालने के सिवा और कुछ नहीं किया है। हृदय को विकसित करनेवाली कला उनकी रचना में नहीं है। अच्छे-से-अच्छे मार्मिक स्थलों को केशव यों ही हवा-की-तरह उड़ाते चले गये हैं।

केशव वर्णन करने में बड़े पटु थे, यह मैं मानता हूँ। पर सब विषयों का वे उत्तम वर्णन नहीं कर सकते थे। राज-वैभव का

वर्णन करने के अतिरिक्त वे और किसी चीज़ का वर्णन करना बिल्कुल नहीं जानते थे। हाँ, वे नाम गिनाने और तरह-तरह की उपमायें आदि भिड़ाने में अवश्य प्रवीण थे। उनका प्रकृति-वर्णन तो बहुत ही थर्ड-क्लास का है। उनकी 'चंद्रिका' में अनेक स्थलों पर नदी-सरोवरों का वर्णन है, पर उनमें मुझे कहीं हृदय को शीतल करनेवाला जल नहीं नज़र आया। वन-जंगल हैं, पर उनमें आँखों को सुख देनेवाली हरियाली नहीं है; चन्द्र है, पर उसमें चाँदनी नहीं है; सूर्य है, पर प्रभा-रहित है; प्रभात है, पर केवल कागज़ पर अंकित भर है; पक्षी हैं, पर वे कागज़ के बने हैं, कलरव नहीं करते। उसी तरह जगह-जगह पर स्त्री-पुरुषों के वर्णन हैं, पर वे सब मृतक की तरह हैं। वे केशव के काव्य में से उठकर पाठक का अभिनन्दन नहीं कर सकते। वे तो पाठकों से मुँह से बोलते तक नहीं। वे चमकीले-दमकीले कपड़ों से सजकर ज़रूर खड़े हैं, पर उनमें कोई ऐसा स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं है कि हम उनकी ओर आकर्षित होसकें।

इनका प्रकृति-वर्णन देखिये—

'शुभ सर सोभै। मुनि मन लोभै॥
सरसिज फूले। अलि रस भूले॥
जलचर डोलैं। बहु खग बोलैं॥
बरणि न जाहीं। उर अरुझाहीं॥'

—रामचन्द्रिका

कवि ने केवल कुछ प्राकृतिक कार्यों के नाम-भर गिना दिये हैं। सो, भी थोड़ी ही दूर चलकर वह हिम्मत हार जाता है और लिख देता है—

'बरणि न जाहीं। उर अरुझाहीं।'

—रामचन्द्रिका

इसीप्रकार एक और प्रकृति-वर्णन देखिये। इसमें ये केवल कुछ वृक्षों के नाम गिना लेगये हैं।—

'तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल लकुच बकुल कुल केर नारियर॥
एला ललित लवंग सङ्ग पुंगीफल सोहै।
सारी शुककुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै॥
शुभ राजहंस कलहंस कुल,
नाचत मत्त मयूरगन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै,
केशवदास बिचित्र बन॥'

—रामचन्द्रिका

जहाँ इन्हें प्रकृति-वर्णन के अच्छे-अच्छे मौक़े मिले भी हैं, वहाँ भी ये चूक गये हैं। जब ताड़का-वध के लिये विश्वामित्र राम को ले चले तब प्रकृति का वर्णन करने का बड़ा अच्छा सुयोग कवि को प्राप्त था, क्योंकि उसका चरितनायक बहुत सुन्दर दृश्यों के बीच में से होकर जारहा था। तुलसी ने इस अवसर से पर्याप्त लाभ उठाया है।

'जहँ-तहँ पियहिं बिबिध मृग-नीरा।
जनु उदार-गृह जाचक-भीरा॥'

—रामचरितमानस

आदि पंक्तियाँ लिखकर तुलसी ने उस प्रसङ्ग को बड़ा ही मनोहर बना दिया है। केशव तो बिलकुल आँख-मूँदकर चले हैं।—

'बेद मंत्र तंत्र शोधि अस्त्र-शस्त्र दै भले ।
रामचन्द्र लक्खनै सु विप्र छिप्र लै चलें ॥
लोभ छोभ मोह गर्ब काम कामना हई ।
नींद भूख प्यास त्रास बासना सबै गई ॥'

—रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका में कई बातें बहुत खटकती हैं। एक तो इसमें अनावश्यक वर्णन बहुत अधिक हैं। चौगान, अयोध्या की रोशनी, रनिवास की वापसी, ५६ प्रकार के भोजन आदि के वर्णन बिल्कुल अनावश्यक जान पड़ते हैं। इसी तरह दुर्गुणों के नाम और ऋषियों आदि के जो नाम इन्होंने गिनाये हैं, वे भी बिल्कुल अनावश्यक हैं। दूसरे, इस ग्रंथ में कई स्थानों पर स्वाभाविकता की बड़ी निर्दयता के साथ हत्या की गई है। राम वन जाते समय नारी-धर्म की शिक्षा अपनी माँ को देते हैं। यह एक बड़ी अस्वाभाविक-सी बात है। राम चले गये, पर ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई विशेष घटना ही नहीं हुई। दशरथ की मनोव्यथा का कहीं चित्रण ही नहीं किया गया है। राम जैसे ही गये वैसे ही दशरथ तुरन्त दूसरे लोक के लिये प्रस्थान कर देते हैं। इससे तो अच्छा था कि केशव उन्हें ज़हर खिलवा कर मरवा देते या उनसे आत्म-हत्या करवा देते। निम्नलिखित वर्णन की अपेक्षा वह अवश्य ही अधिक स्वाभाविक कार्य होता—

'रामचन्द्र धाम तें चले सुने जबै नृपाल ।
बात को कहै सुनै सु ह्वै गये महा बिहाल ॥
ब्रह्म-रंध्र फोरि जीव यौं मिल्यौ जुलोक जाय ।
गेह तूरि ज्यौं चकोर चन्द्र में मिलै उड़ाय ॥'

—रामचन्द्रिका

इसीतरह युद्ध-स्थल में शृंगार-रस का एक अस्वाभाविक वर्णन देखिये। ऐसा ज्ञात होता है कि केशव को स्त्रियों के कुचों का वर्णन करना विशेष प्रिय था। उनके करतार के हाथों की भी विशेष प्रसिद्धि इसी में है कि वे 'श्री कमला-कुच-कुंकुम-मंडन' में 'पंडित' हैं। जब युद्ध-स्थल में युद्ध का प्रसंग आया तो केशव को लड़ाई के मैदान में कई दिनों तक कुचों का स्पर्श करने का मौक़ा न मिला, इससे वे व्याकुल हो उठे। उन्होंने तुरन्त एक तरकीब खोज निकाली। उन्होंने अंगद से मंदोदरी के केश पकड़कर खिँचवाये। मंदोदरी की चोली फट गई; उसके उरोज दिखाई पड़ने लगे। बस, केशव अलंकारों की फ़ौज लेकर उसपर टूट पड़े।—

'बिना कंचुकी स्वच्छ बच्छोज राजैं।
किधौं साँचहू श्रीफलै सोभ साजैं॥
किधौं स्वर्ण के कुंभ लावण्य पूरे।
वशीकर्ण के चूर्ण सम्पूर्ण पूरे॥१॥
किधौं इष्टदेवै सदा इष्ट ही के।
किधौं गुच्छ द्वै काम-संजीवनी के॥
किधौं चित्त चौगान के मूल सोहैं।
हिये हेम के हालगोला बिमोहैं॥२॥'

—रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका में कई स्थलों पर काल-विरुद्ध दोष पाया जाता है। दण्डकारण्य में राम, अर्जुन (ककुभ) और भीम (अम्लवेत) के वृक्षों को देखकर कहते हैं कि ये पांडवों की मूर्ति की तरह लगते हैं।—

'पांडव की प्रतिमा सम लेखो।
अर्जुन भीम महामति देखो॥'

—रामचन्द्रिका

पांडव तो राम के बहुत बाद में हुये थे, इसलिये राम उनका उल्लेख कैसे कर सकते थे ?

समस्त रामचन्द्रिका को पढ़ लेने के बाद यही धारणा मन में उठती है कि यह जनसाधारण के लिये नहीं बल्कि सिर्फ़ सनाढ्यों के लिये लिखी गई है। जगह-जगह पर सनाढ्यों का उल्लेख हुआ है। राम के द्वारा उन्हें स्थान-स्थान पर दान दिलवाया गया है। राम सनाढ्यों को प्रतिदिन शत-सहस्त्र गायें दिये बिना भोजन ही नहीं करते।—

'शोभन सनौढियन रामचन्द्र दिन प्रति,
गोशत सहस्त्र दैकै भोजन करतु हैं।'

—रामचन्द्रिका

राम सनाढ्यों के पैर-धोकर उन्हें सैकड़ों ग्राम देते हैं और महर्षियों आदि की उपेक्षा करके सबसे पहले सनाढ्यों ही को पूजते हैं।—

'छाँड़ि द्विज द्विजराज ऋषि,
ऋषिराज अति हुलसाइ।
प्रगट समल सनौढियन के
प्रथम पूजे आइ॥'

—रामचन्द्रिका

इसीतरह अनेक स्थलों पर सनाढ्यों के लिये ख़ूब क़िलेबन्दी की गई है। विचारों की यह संकीर्णता किसी महाकाव्य के लिये शोभा-जनक नहीं होसकती।

रामचन्द्रिका के विपक्ष में अब मैं और कुछ न लिखूँगा; क्योंकि बहुत संक्षेप में लिखने पर भी यह प्रसङ्ग बढ़ता ही जारहा है, और मुझे कुछ और ग्रंथों के विषय में भी इसी छोटे-से निबन्ध में लिखना है। अतएव अब हम रामचन्द्रिका की विशेषताओं पर कुछ प्रकाश डालेंगे, जिनके कारण उसे साहित्य में एक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है।

रामचन्द्रिका की प्रसिद्धि के दो कारण हैं। एक तो, उसके अनेक स्थलों में बड़े ही सजीव वर्णन मिलते हैं, जिनमें हिन्दी-भाषा का ओज-गुण देखते ही बनता है। दूसरे, इस ग्रंथ में एक-से-एक बढ़कर उत्तमोत्तम संवाद हैं, जिनमें अच्छी काव्य-शक्ति का उपयोग हुआ है। अपने इन्हीं गुणों के कारण राम-चन्द्रिका हिन्दी-साहित्य में एक श्रेष्ठ पद की अधिकारिणी मानी गई है।

राजदरबार से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का वर्णन केशव ने बड़ा ही सुन्दर किया है। राज-सभा, राजमहल, शिष्टाचार, ज्योंनार, सेना-संचालन, राजनीति और राज-वैभव आदि का वर्णन करने में इन्होंने हिन्दी के सभी कवियों के सिर पर पैर रख दिया है। ऐसे स्थलों का उदाहरण देना व्यर्थ है क्योंकि राम-चन्द्रिका में वे पद-पद पर मिलते हैं।

संवादों में भी इन्होंने वाक्पटुता के बड़े ज्वलन्त उदाहरण सामने रक्खे हैं। इनके संवादों में सुमति-विमति का संवाद, परशुराम-राम-संवाद और अंगद-रावण-संवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन स्थलों पर इनकी कविता बहुत स्वाभाविक रीति से आगे बढ़ती हुई नज़र आती है और ऐसे ही स्थलों से पाठकों को केशव के काव्य-कौशल का पता भी चलता है। इन संवादों की भाषा कितनी ओजपूर्ण है, इसका उदाहरण आप

परशुराम-राम-संवाद से ले सकते हैं, जहाँ परशुराम कहते हैं।—

'सितकंठ के कंठन को कठुला,
दसकंठ के कंठन को करिहौं'

—रामचन्द्रिका

× ×

'बोरौं सबै रघुबंस कुठार की,
धार में बारन बाजि सरत्थहिं।
बान की बायु उड़ाय के लच्छन,
लच्छ करौं अरिहा समरत्थहिं॥
रामहिं बाम-समेत पठै बन,
कोप के भार में भूंजौं भरत्थहिं।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो,
आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं॥'

—रामचन्द्रिका

इनकी वर्णन-पटुता देखनी हो तो मुख्यतः दो स्थानों पर देखिये—एक तो रावण के शयनागार के वर्णन में, दूसरे राम-राज्य-वर्णन में। दोनों के वर्णन करने में उन्होंने काफ़ी कारीगरी की है। हनुमान जब रावण के शयनागार में पहुँचे तो उन्होंने देखा।—

'कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावैं।
सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावैं॥
कहूँ यक्षिणी पक्षिणी लै पढ़ावैं।
नगी-कन्यका पन्नगी को नचावैं॥

पियैं एक हाला गुहैं एक माला।
बनी एक बाला नचै चित्रशाला॥
कहूँ कोकिला कोक की कारिका को।
पढ़ावैं सुवा लै सुकी सारिका को॥'

—रामचन्द्रिका

इसीप्रकार इनका राम-राज्य-वर्णन भी बहुत कवित्व-पूर्ण और साथ-ही-साथ लम्बा-चौड़ा भी है। श्लेष की सहायता से कवि ने राम-राज्य का अच्छा वर्णन किया है। वहाँपर कोई व्यभिचारी नहीं है, केवल एक 'भाव' ही व्यभिचारी मिलता है; कोई परनारी-रमण नहीं करता केवल वैद्य ही दूसरों की नारी (नाड़ी) पकड़ता है; कोई दंड लेनेवाला नहीं है, केवल ब्राह्मण लोग ही दंड (डंडा) लेकर चलते हैं; किसी चीज़ की चोरी नहीं होती, केवल दूसरे की पीड़ा ही चुराई जाती है। वहाँ पर किसी की अधोगति नहीं होती, सिर्फ़ वृक्षों की जड़ें ही अधोगति को प्राप्त होती हैं। मृत्यु के अतिरिक्त और किसी का वियोग भी वहाँ नहीं सहना पड़ता। विधवा कहीं नहीं मिलतीं, सिर्फ़ वाटिका ही विधवा (धवा नामक वृक्ष से रहित) मिलती है। वहाँपर स्त्रियों के कटाक्ष को छोड़कर कोई कुटिल नहीं; स्त्रियों के कुच को छोड़कर कोई कठोर नहीं; दुःख के अतिरिक्त और कोई चीज़ अदेय नहीं है; दो अर्थों या दुबिधा की बातें केवल श्लेष ही में सुनने को मिलती हैं और ब्राह्मण-जाति के सिवा कोई अजेय नहीं है।

राम-राज्य में केवल होम के धुवें की मलिनता देखने को मिलेगी; चंचलता केवल पीपल के पत्तों में मिलेगी और कुटिल चाल केवल सरिताओं में मिलेगी। इस प्रकार बहुत चमत्कार-पूर्ण

शैली में राम-राज्य और राम की राजनीति की महत्ता का वर्णन है।

एक और विशेषता इस ग्रंथ की यह है कि कवि ने दो-तीन पात्रों का चित्र बहुत ही स्वाभाविक रूप से चित्रित किया है। कम-से-कम रावण और अंगद के चरित्र को अंकित करने में तो ये बहुत ही सफल हुये हैं। अन्य काव्यकारों की तरह इन्होंने रावण की मिट्टी नहीं पलीद की है, बल्कि उसके वैभवशाली पद का काफ़ी सम्मान किया है। सीता-स्वयंवर के पूर्व बाण और रावण के सम्वाद में रावण यह प्रकट कर देता है कि साधारण धनुष को उठाना उसकी प्रबल भुजाओं की शोभा के लिये लज्जा-जनक बात है। इससे वह धनुष उठाने से इन्कार कर देता है। इससे उसकी वीरता पर कोई आघात नहीं पहुँचता। जगह-जगह पर कवि ने रावण के वैभव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वह इतना वैभवशाली है कि अंगद ने लंका में पहुँचने पर देखा कि रावण का प्रतिहार भी ब्रह्मा, बृहस्पति, कुबेर, सूर्य और चन्द्र आदि को डाँटकर कर कहता है कि यहाँ पर शोर न मचाओ, यह कोई साधारण दरबार थोड़े ही है—

'पढ़ौ बिरंचि, मौन बेद, जीव सोर छंडि रे।
कुबेर, बेर कै कही, न जच्छ-भीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठु, नारदादि संग ही।
न बोलु चन्द मन्दबुद्धि, इन्द्र की सभा नहीं॥'

—रामचन्द्रिका

फिर अंगद को अपनी ओर मिलाने के लिये रावण राजनीति के जो दाँव-पेंच दिखाता है उससे उसकी राजनीतिज्ञता का भी

परिचय मिलता है। उसके विचारों की दृढ़ता का एक उदाहरण देखिये। अंगद कहता है कि राम तेरे राज्य में आगये हैं, तू उनका सत्कार कर और सीता को उन्हे लौटा दे। रावण भयभीत नहीं होता। वह कहता है कि जो रुद्र सारी सृष्टि को और देवताओं तथा ब्रह्मा विष्णु आदि को भ्रू-भंग-मात्र से नष्ट कर देते हैं, उनको छोड़कर मैं राम के पैरों पर क्यों पड़ूँ; आज तो संसार मेरे पैरों पर पड़ता है, किसी के पैरों पर मैं क्यों गिरूँ।—

'लोक लोकेश स्यों जासु ब्रह्मा रचे,
आपनी-आपनी सींव सो-सो रहैं।
चारि बाहैं धरे बिष्णु रक्षा करैं,
बात साँची यहै बेद-बानी कहैं॥
ताहि भ्रूभंग ही देव-देवेशस्यों,
बिष्णु-ब्रह्मादि दै रुद्रजू संहरै।
ताहि हौं छोड़ि के पाँय काके परौं,
आज संसार तो पाँय मेरे परै॥'

—रामचन्द्रिका

उसे अपने बल का भरोसा है, इसीसे वह सुग्रीव की सहायता लेकर चढ़ाई करनेवाले राम को कुछ नहीं समझता और कहता है :—

(१)

'महामीचु-दासी सदा पाइँ धोवै।
प्रतीहार ह्वैके सदा सूर सोवै॥
छपानाथ लीन्हे रहै छत्र जाको।
करैगो कहा सत्रु सुग्रीव ताको॥

(२)

सका मेघमाला सिखी पाककारी।
करै कोतवाली महादंडधारी॥
पढ़ै बेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके।
कहा बापुरो शत्रु सुग्रीव ताके॥'

—रामचन्द्रिका

इसीतरह अंगद के चरित्र में भी कवि ने एक ऐसी विशेषता ला दी है; जिससे वह बहुत ऊँचे उठ गया है। अन्य ग्रंथों में तो अङ्गद बिल्कुल नामर्द-सा बनकर रहता है। राम ने उसके पिता बालि का वध किया था। अङ्गद के मन में कभी राम के विपरीत कोई भावना नहीं उठी। रामचन्द्रिका में अङ्गद के मन में एकबार पितृ-वध का बदला लेने का विचार उठता है। जब राम का राज्याभिषेक होरहा था तो उसे अपने पिता की याद आई। उसने वहींपर सबको ललकारा और कहा कि आज मैं सबसे अकेले लड़ूँगा और अपने पिता के वध का बदला लूँगा। इस स्थल की कल्पना करके केशव ने अपनी बड़ी दूरदर्शिता प्रकट की है। इसीप्रकार अङ्गद जब राजदूत बनकर लंका में रावण से मिलने गया है उस समय भी केशव ने अंगद की बुद्धिमत्ता प्रकट करने का एक अच्छा प्रसंग उपस्थित कर दिया है।

रामचन्द्रिका में कितनी भी त्रुटियाँ हों, पर उसमें कुछ ऐसी विशेषतायें हैं कि उसको हिन्दी-कविता का एक श्रेष्ठ ग्रंथ मानना ही पड़ता है। मैं समझता हूँ कि ऊपर की बातों को पढ़कर पाठकों के हृदय में शक की ज़रा भर भी गुञ्जाइश न रह जायगी कि राम-चन्द्रिका हमारे साहित्य की एक श्रेष्ठ कृति है।

(३)

अब हम मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत को लेते हैं। इसका रचना-काल संवत् १९१७ के आसपास माना जाता है। पद्मावत शुद्ध अवधी भाषा में लिखा हुआ हिन्दी का एक श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य है। इसमें एक प्रेम-कहानी है जिसका प्रारम्भिक भाग तो कल्पना-प्रसूत है और अन्तिम भाग ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखा गया है। सम्पूर्ण कथा एक रूपक है जिसमें लौकिक प्रेम के बहाने पारलौकिक प्रेम की ओर संकेत किया गया है। जायसी का मुख्य उद्देश्य प्रेम की प्रधानता दिखलाना था। उसने स्वयं लिखा है।—

'तुरकी अरवी हिन्दवी, भाषा जेती आहि।
जामे मारग प्रेम का, सबै सराहैं ताहि॥'

—पद्मावत

इसमें शक नहीं कि कवि अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल हुआ है। यद्यपि जायसी बहुत पढ़ा लिखा नहीं था, तौ भी वह पद्मावत-जैसी सरस रचना प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ। इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि उसके पास प्रतिभा थी और उसने साधुओं की संगति करके काफ़ी अनुभव प्राप्त कर लिया था। यदि वह अधिक पढ़ा लिखा होता तो शायद कविता में इतना माधुर्य न ला सकता; क्योंकि तब तो वह केशव की तरह अलङ्कारों के चक्कर में पड़ जाता।

पद्मावत का सारा रस दो स्थानों पर केन्द्रीभूत है—एक तो पद्मावती के रूप-वर्णन में और दूसरा रतनसेन की उपेक्षिता रानी नागमती के विरह-वर्णन में। नागमती का विरह-वर्णन तो हिन्दी-

साहित्य में एक बेजोड़ चीज़ है। वह 'बारहमासा' नाम से हिन्दी-साहित्य-संसार में काफ़ी प्रसिद्ध है। नागमती के विरह-वर्णन में बड़ी वेदना है, बड़ी तड़प है। नागमती एक आर्याङ्गना की तरह पति के वियोग में रो-रोकर दिन काटती है। सारी रात वह खाट की पाटी पकड़कर रो-रोकर बिता देती है। उपवनों में वह आधीरात को रोती हुई घूमती है। साधारण पक्षी भी उसकी इस दशा को देखकर दयार्द्र होजाते हैं। वह जब देखती है कि तृण-लतायें और फल-फूल विकसित हो आये हैं और भौंरे पुरानी प्रीति को याद करके फिर मालती के पास लौट आये हैं, तो उसके दिल पर प्रेम की एक गहरी चोट लगती है। वह अपनी दशा को सोचती है कि मेरा पति रतनसेन भी इसी भ्रमर की तरह लौटकर क्यों नहीं आया। वह सूखे हुये तालाब की ओर देखती है जिसमें का जल सूख रहा है और ज़मीन में दरारें फटती जारही हैं। उससे वह अपने फटते हुये हृदय की तुलना करती है और कहती है कि जिस तरह पानी की बूँदें पड़ जाने से ये दरारें एक हो जायँगी वैसे ही हे प्रिय! तुम आओ और अपनी एक दृष्टि से मेरे फटते हुये हृदय को सींच कर एक कर दो।—

'सरवर-हिया घटत नित जाई।
टूक-टूक होइ कै बिहराई॥
बिहरत हिया करहु पिय टेका।
दीठि-दवँगरा मेरवहु एका॥'

—पद्मावत

नागमती के विरह-वर्णन में जायसी की सहृदयता तो देखते ही बनती है साथ-ही-साथ अवधी भाषा की सुकुमारता का पता भी चल जाता है कि वह कितनी कोमल और मधुर हो सकती है।

पद्मावती के रूप-वर्णन से भी जायसी के कवि-हृदय का कुछ पता चलता है। यद्यपि इन्होंने उसमें अतिशयोक्ति बहुत की है, पर अतिशयोक्ति भी तो कविता का एक गुण है। पद्मावती की माँग का वर्णन देखिये।—

'बरनौं माँग सीस उपराहीं।
सेन्दुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं॥
बिन सेन्दुर अस जानहु दिया।
उजियर पंथ रैनि महँ किया॥
कंचन-रेख कसौटी कसी।
जनु घन महँ दामिनि परगसी॥
सुरिज किरनि जनु गगन बिसेखी।
जमुना माँझ सरसुती देखी॥
खाँडे धार रुधिर जनु भरा।
करवत लै बेनी पर धरा॥
तेहि पर पूरि धरे जो मोती।
जमुना माँझ गंग कै सोती॥'

—पद्मावत

इसीतरह उसके ललाट का भी अलंकार-पूर्ण वर्णन है। कवि चाँद को भी उसके मुक़ाबले में नहीं रखना चाहता।—

'का सरवरि तेहि देउँ मयंकू।
चाँद कलंकी वह निकलंकू॥'

—पद्मावत

पद्मावती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ख़ूब ललित वर्णन कवि ने किया है। उसकी कमर बर्रे की कमर से भी पतली है; उसके कपोल नारंगी के दो टुकड़े-जैसे जान पड़ते हैं; उसके उरोज औंधाई

हुई कटोरी की तरह लगते हैं। वह इतनी कृशांगी है कि मकड़ी के जाले की बुनी हुई साड़ी पहनने पर भी उसके शरीर में जगह-जगह पर उससे खरोंच लग जाती है। उसका गला इतना स्वच्छ है कि जब वह पान का रस घूँटती है तो वहाँ पर उसकी रेखा पड़ जाती है। जब वह गले में हार पहनती है तो ऐसा जान पड़ता है जैसे—

'ससि पहिरे नखतन कै मारा'

—पद्मावत

जायसी का काव्य श्रृङ्खलाबद्ध है। आदि से अन्त तक उसमें कविता का एक ही रूप देखने को मिलता है। कहीं शिथिलता नहीं आने पाई है। पद्मावत में उच्चकोटि के रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। एक आध्यात्मिक विषय का निर्वाह करते हुये भी जायसी आदि से अन्त तक कवि ही बना रहा है। सारे काव्य में और चाहे जो भी त्रुटि मिले, पर नीरसता कहीं नहीं मिलती।

पद्मावत में त्रुटियाँ भी हैं और बहुत ज़्यादा मात्रा में। एक तो इस ग्रंथ में पुनरुक्ति दोष बहुत है। भिन्न-भिन्न स्थलों के वर्णन में नवीनता नहीं है। जायसी को इस बात का पता नहीं था कि कौन चीज़ कहाँ होती है और कहाँ नहीं। भूगोल तो शायद इनके बाप ने भी कभी नहीं पढ़ा था। इनके अनुसार मान-सरोवर सिंहल-द्वीप (लङ्का) के पास एक समुद्र है और कैलाश पर शिवजी नहीं बल्कि इन्द्र निवास करते हैं। प्रकृति-वर्णन में भी ये बस पेड़ों और फूलों के नाम गिनाते चले गये हैं। चित्तौर से लेकर सिंहल-द्वीप तक इन्हें सब जगह ढाँख ही के वन नज़र आये हैं। जहाँ देखिये वहीं लिख मारा है।—

'परबत समुद अगम बिच,
बीहड़ घन बन ढाँख।'

—पद्मावत

× × ×

'तरिवर झरहिं झरहिं बन ढाँखा।'

—पद्मावत

× × ×

'बरुनि बान अस ओपहँ,
बेधे रन बन ढाँख।'

—पद्मावत

× × ×

'सघन ढाँख बन चहुँ दिसि फूला।'

—पद्मावत

शायद इसका कारण यह हो कि ये अमेठी में रहते थे, जहाँ चौदह कोस ऊसर-ही-ऊसर है, जिसमें ढाँख के पेड़ काफ़ी देखने को मिलते रहे होंगे। कहावत है कि अगर अमेठी का ऊसर न होता तो वहाँ का राजा पृथ्वी पर दूसरा ईश्वर होता।—

'जौ न होत अमेठी क ऊसर।
राजा होत दैव कर दूसर॥'

पद्मावती के वर्णन में इनकी अतिशयोक्ति कहीं-कहीं अपनी सीमा को पार कर गई है, और अप्रिय प्रतीत होने लगी है। पद्मावती के सम्बन्ध में इन्होंने दो-तीन जगह इतनी अश्लील बातें लिख दी हैं कि उनसे काव्य के ऊपर एक कलंक-सा लग गया है। उन व्यक्तिगत बातों को एक काव्य में स्थान न मिलना

चाहिये था। नागमती का चित्रण भी कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो गया है। वह चित्तौर की महारानी-न मालूम होकर एक देहाती स्त्री मालूम पड़ने लगती है। बरसात में सबसे बड़ी चिन्ता उसे इसी बात की है कि घर कौन छायेगा। उसके विरह-वर्णन में कवि ने अतिशयोक्ति की टाँग तोड़ दी है। वह किसी से बातचीत तक नहीं कर सकती क्योंकि जिस किसी से वह अपनी विरह-व्यथा की कथा कहती है, वही जलकर ख़ाक हो जाता है।—

'जेहि पंखी के नियर ह्वै, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात॥'

—पद्मावत

कहीं-कहीं ये बेसिर-पैर की कल्पनायें भिड़ाते हुये चले गये हैं। जैसे, सिंह इसलिये नर-भक्षण करता है कि जब वह समाज में रहता था तो उसने पद्मावती की कमर से अपनी कमर की तुलना की थी; हार जाने पर वह वन में चला गया और गुस्से में आकर मनुष्यों को मार-मारकर खाने लगा। इसीतरह कौवा और भौंरा इसलिये काले पड़ गये कि उन्हें विरहिणी के जलते हुये शरीर का धुवाँ लगा था।

पद्मावत की भाषा भी मँजी हुई नहीं है। कहीं-कहीं तो अनुमान से भाव ग्रहण करना पड़ता है। मुहावरों का भी प्रयोग इन्होंने कहीं-कहीं बहुत अजीब ढंग से किया है, जिससे अर्थ समझने में काफ़ी कठिनाई पड़ती है।

अच्छाइयाँ-बुराइयाँ तो सब जगह होती हैं। जायसी की रचना में भी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों हैं, पर अच्छाइयाँ अधिक मात्रा में हैं। इसलिये उसे एक श्रेष्ठ ग्रंथ स्वीकार करने में

किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती। जो कवि प्रेम से विह्वल होकर लिख सकता है कि—

'जहँ पिरीतम वे बसैं,
यह जिउ बलि तेहि बाट।
जो सो बोलावै पाँव सों,
मैं तहँ चलौं लिलाट॥'

—पद्मावत

उसकी रचना में अवश्य ही सरस कविता के दर्शन होंगे क्योंकि कविता कहीं बाहर से तो आती नहीं; वह तो हृदय से निकलती है और हृदय ही में समा जाती है।

(४)

अब हम हिन्दी के एक तीसरे काव्य-ग्रन्थ को लेते हैं जो मेरी दृष्टि में तो नहीं, पर बहुसंख्यक लोगों की दृष्टि में हिन्दी का एक श्रेष्ठ ग्रंथ समझा जाता है। मुझे उसकी श्रेष्ठता पर पूर्ण-रूप से सन्देह है। वह नन्ददास-कृत 'भँवरगीत' है। मैंने इस लेख में उसपर विस्तारपूर्वक कुछ लिखा भी सिर्फ़ इसीलिये है कि हिन्दी-पाठकों के दिल से यह ख़याल दूर हो जाय कि भँवर-गीत हिन्दी-साहित्य की कोई चीज़ है।

कुछ लोगों को नन्ददास बहुत प्रिय हैं। युनिवर्सिटियों और कॉलेजों में उनके ग्रन्थ कोर्स में रक्खे जाते हैं। २५२ वैष्णवों की वार्ता में उनका ज़िक्र है; भक्तमाल में उनपर एक पद्य है; भारतेन्दु ने उत्तरार्द्ध भक्तमाल में उनका स्मरण किया है; वेणी-माधवदास ने मूल गोसाईं चरित में उनके विषय में कुछ छन्द लिखे हैं; ध्रुवदास ने भक्तनामावली में उनकी ख़ूब तारीफ़ की है।

मिश्रबन्धु-विनोद, कविता-कौमुदी, हिन्दी-साहित्य का इतिहास आदि ग्रन्थों में इनके विषय में काफ़ी लिखा गया है। इसके अतिरिक्त इनपर बहुत-से लेख निकल चुके हैं और निकलते जारहे हैं। रतनाकरजी भी इन्हें कविता में बड़ा आदमी समझते थे। तभी तो लिखा है कि—

'नन्ददास, देव, घनआनँद, बिहारी सम,
सुकवि बनावन की तुम्हें सुधि ग्याऊँ मैं'

—रतनाकर

इनके विषय में प्रसिद्ध है कि—

'और सब गढ़िया।
नन्ददास जड़िया॥'

इन सब बातों से मालूम पड़ता है कि नन्ददास ज़रूर एक बहुत बड़ा कवि रहा होगा। पर बात ऐसी नहीं है। हिन्दी की अन्धेर-नगरी में किसी को एक आदमी कह दे कि यह बड़ा भारी कवि है, सब उसका समर्थन करने लगते हैं। नन्ददास के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। यदि इस कवि के विषय में मुझे सम्मति देने को कहा जाय तो मैं यही कहूँगा कि—

और सब जड़िया।
नन्ददास गढ़िया॥

नन्ददास गढ़िया के विषय में मेरा यह कथन निराधार नहीं है। इनके बहु-प्रसिद्ध ग्रन्थ भँवरगीत की आलोचना से आपको मेरे इस कथन की सत्यता ज्ञात होगी।

सबसे पहली बात तो यह है कि नन्ददास को ग्रन्थ का आरंभ करना नहीं आता था। भँवरगीत का प्रारंभिक पद्य है—

'ऊधव को उपदेस सुनो ब्रजनागरी।
रूप सील लावन्य सबै गुनआगरी॥
प्रेम-धुजा रस-रूपिनी, उपजावनि सुख-पुंजं।
सुन्दर स्याम बिलासिनी, नव बृन्दाबन-कुंज॥
सुनो ब्रजनागरी।'

—भँवरगीत

कुछ पता ही नहीं चलता कि ये उद्धव महाशय कौन हैं, कहाँ से आये हैं और किस जगह खड़े होकर अपनी स्पीच झाड़ रहे हैं। अन्य भँवरगीतों में ऐसी बेवकूफ़ी से ग्रन्थ का आरंभ नहीं किया गया है। सूरदास पहले कृष्ण और उद्धव की बातचीत का ज़िक्र करते हैं। कृष्ण कहते हैं।—

'पहिले करि परनाम नन्द सों समाचार सब दीजो।'

—सूरसागर

'पथिक सँदेसो कहियो जाय।
आवेंगे हम दोनों भैया मैया जनि अकुलाय॥'

—सूरसागर

इसके बाद उद्धव जब गोकुल के निकट पहुँचते हैं तो गोपियाँ दूर से उन्हें देखती हैं और कृष्ण को आता हुआ समझ कर आपस में कहती हैं—

'कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेई पट, वैसिय रथ बैठनि, वैसिय है उर-दाम॥'

—सूरसागर

इसके बाद जब उद्धव पहुँचते हैं तो गोपियाँ उनसे पहले ही पूछती हैं।—

'कहौ कहाँते आये हौ ।
जानति हौं अनुमान मनौ तुम जादवनाथ पठाये हौ ॥'

—सूरसागर

रतनाकरजी भी उद्धव-शतक में पहले कृष्ण और उद्धव की बातचीत कराते हैं ।—

'फिरत हुते जू जिन कुंजनि में आठोजाम ।
नैननि में अब सोई कुंज फिरिबो करैं ॥'

—उद्धवशतक

इसके बाद उनके जाने का वर्णन है । पहुँचने पर गोपियाँ उन्मत्त होकर दौड़ पड़ती हैं और पूछने लगती हैं—

'हमकों लिख्यो है कहा, हमकों लिख्यो है कहा,
हमकों लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं ॥'

—उद्धवशतक

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय भी प्रियप्रवास में इस प्रसङ्ग का वर्णन एक सिलसिले से करते हैं । पहले-पहल गोपियाँ ही उद्धव को देखती हैं—

'उसी दिशा से जिस ओर दृष्टि थी,
विलोक आता रथ में स-सारथी ।
किसी किरीटी पट-पीत-गौरवी,
सुकुण्डली श्यामल-काय पांथ को ॥'

—प्रियप्रवास

मगर 'जड़िया जी' की किताब में तो बात ही और है । इन्होंने बिना जड़ का पेड़ लगाया है ।

आपके उद्धव आशिकों की तरह गोपियों को 'रूप सील लावन्य सबै गुन आगरी,' 'उपजावनि सुख-पुंज,' 'विलासिनी' आदि विशेषणों से सम्बोधित करके बातचीत प्रारंभ करते हैं। आश्चर्य तो यह है गोपियों ने अपने विषय में एक अजनबी के मुख से ऐसी-ऐसी बातें सुनकर उसे कोई गुंडा या बदमाश समझकर बाहर क्यों नहीं निकलवा दिया।

फिर आगे चलकर उद्धव के मुख से आप कहलाते हैं।—

'कहन स्याम संदेस एक मैं तुम पै आयौ।
कहन समै संकेत कहूँ अवसर नहिं पायौ।
सोचत ही मन मैं रह्यौं कब पाऊँ इक ठाउँ।
कहि सँदेस नँदलाल को बहुरि मधुपुरी जाउँ॥'
सुनो ब्रजनागरी।

—भवँरगीत

कोई गुप्त बात तो कहनी नहीं थी, फिर एकान्त स्थान क्यों ढूँढ़ा जारहा था, पता नहीं। उद्धव 'बसीठ' बनकर तो आये नहीं थे? यहाँ जासूसी करने की क्या ज़रूरत थी? क्या उद्धव महाराज लड़कियाँ फँसाने आये थे? अन्य भँवरगीतों में उद्धव सब ब्रजबासियों के सामने ही ब्रज में पधारे हैं। पहले सबने उनको देखा; फिर स्वागत किया; तब वे बातचीत करने लगे। यहाँ तो मालूम होता है कि उद्धव बेचारा न-जाने कबसे दीवाल की आड़ में दबका हुआ इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि किसी तरह गोपियों के पास से अन्य लोग चले जायँ।

'सुनो ब्रजनागरी' से ऐसा आभासित होता है कि गोपियाँ उद्धव को देखकर भगी जारही थीं या वे उद्धव की बातें सुनना

नहीं चाहती थीं और उद्धवजी उनकी साड़ी पकड़-पकड़ कर उन्हें बैठाते थे कि 'सुनो ब्रजनागरी' । यह वैसा ही लगता है जैसे रामायण गाते वक्त लोग 'सियावर रामचन्द्र की जै' कहते हैं ।

आगे चलकर उद्धव महाराज की और दुर्दशा होती है । गोपियाँ अर्घ्य देकर उन्हें आसन देती हैं और उनकी परिक्रमा करने लगती हैं ।—

'अर्घासन बैठारि बहुरि परिकरमा दीन्ही ।'

उद्धव की परिक्रमा करने की क्या ज़रूरत थी ? क्या गोपियाँ किसी मन्दिर में किसी पत्थर के देवता के सामने खड़ी थीं ?

नन्ददास के उद्धव ऐयारी के फ़न में भी उस्ताद थे । जब गोपियाँ मूर्छित होजाती थीं तो आप उन्हें प्रकृतिस्थ कर लेते थे ।—

'बिह्वल ह्वै धरनी परीं ब्रजबनिता मुरझाय ।
दै जलछींट प्रबोधहीं ऊधव बैन सुनाय ॥'

—भँवरगीत

गोपियों को मिरगी आती थी क्या, जो वे बारबार बेहोश हो जाती थीं ?

आगे चलकर उद्धव अद्वैतवाद का सिद्धान्त समझाना शुरू करते हैं । यहीं से पूरी बहँस शुरू होती है । अहीरों की गँवार स्त्रियाँ ख़ूब जमकर बहँस करती हैं । उद्धव भी किसी से कम थोड़े ही थे; फिर नन्ददास जड़िया की बुद्धि उनके साथ थी । वे भी ख़ूब बाल की खाल खींचते हैं । अस्वाभाविकता की हद होगई।

है। दो विद्वानों में तर्क-वितर्क होता तो एक बात भी थी। यहाँ तो नन्ददास ने युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर और देहाती अहिरिनों में घमासान युद्ध करवा दिया है।

गोपियाँ बार-बार 'सखा सुन स्याम के' कहती हैं; इससे मालूम होता है कि उद्धव महाराज अपनी ही पिनक में बड़बड़ाते चले जाते थे, और किसी की सुनते ही नहीं थे; इसलिये गोपियों को उन्हें बीच ही में टोकना पड़ता था।

जबतक गोपियाँ कृष्ण के भिन्न-भिन्न अवतारों को उपालम्भ देती रहीं तबतक उद्धव किस कार्य में व्यस्त रहे, पता नहीं। मालूम होता है प्वाइंट्स भूल गये थे।

ख़ैर, बड़ी देर की बक-झक के बाद उद्धव जी हार जाते हैं और गोपियों पर इतने आशिक़ हो जाते हैं कि वे चाहते हैं कि ब्रज की धूल बन जायँ जिससे कम-से-कम उन 'बिलासिनी' गोपियों के पैर तो उनपर पड़े।—

'अब रहिहौं ब्रजभूमि की ह्वै पग-मारग-धूरि।
बिचरत पद मो पै परै सब सुख जीवन-मूरि॥'

—भँवरगीत

फिर वे चाहते हैं कि कम-से-कम वे ब्रज में लता ही बन जायँ जिससे उन 'लावन्य'-वती गोपियों की छाया तो उनपर पड़ सके।—

'कैस होंहु द्रुमलता बेलि बल्ली बन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मोपै परछाहीं॥'

—भँवरगीत

देखते जाइये, 'जड़िया जी' क्या-क्या जड़ते चलते हैं।

मथुरा पहुँचते ही उद्धव बड़े ताव में आकर बोलते हैं—'सुनो नँदलाडिले'। ऐसा मालूम पड़ता है गोया कृष्ण उद्धव के में बसे हैं, या उनके हरवाहे-चरवाहे हैं। इस तरह तो किसी लतमर्द शूद्र को बुलाया जाता है। जैसे 'सुन बे रमहरखा के बच्चे!'

इस ग्रन्थ में सबसे बड़ी कमी और सबसे बड़ी बेवकूफ़ी की बात तो यह है कि उद्धव सिर्फ़ गोपियों ही से लड़-झगड़कर भाग खड़े होते हैं; न नन्द से मिलते हैं न यशोदा से। यह असंभव है कि कृष्ण-सखा ब्रज में गया हो और नन्द-यशोदा उससे अपने बेटे का कुशल-प्रश्न पूछने न आये हों। इस प्रसङ्ग पर लिखनेवाले अन्य कवियों ने इसतरह की ग़ैर-ज़िम्मेदारी का काम नहीं किया है। रतनाकरजी के उद्धव-शतक में जब उद्धव जाने लगते हैं तो नन्द-यशोदा कृष्ण के लिये भेंट भेजते हैं।—

'पीत पट नन्द, जसुमति नवनीत नयो,
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी।'

—उद्धव-शतक

और सब ब्रजवासी कृष्ण को अपना 'राम-राम' कहलाते हैं।—

नन्द-जसुदा औ गाय, गोप-गोपिका की कछु,
बात बृषभान-भौनहू की जनि कीजियो।
कहै रतनाकर कहत सब हाहाखाइ,
ह्यां के परपंचनि सों रंच न पसीजियो॥
आँसू भरे ऐहैं औ उदास मुख हैहैं हाय,
ब्रज-दुख-त्रास की न यातें साँस लीजियो।

नाम को बताइ औ जताइ ग्राम ऊधो बस ,
स्याम सों हमारो राम-राम कहि दीजियो ॥'

—उद्धव शतक

प्रियप्रवास में हरिऔधजी इस स्थल का वर्णन और भी अधिक विस्तृत-रूप से करते हैं । यशोदा पूछती हैं—

'मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं ।
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती ॥'

—प्रिय-प्रवास

फिर वे कहती हैं ।—

'संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा ।
लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी ॥'

—प्रिय-प्रवास

× × ×

'मैं थी सारा दिवस मुख को देखते ही बिताती ।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी ॥
हा ! ऐसे ही अब बदन को देखती कौन होगी ।
ऊधो ! माता-सदृश ममता अन्य की है न होती ॥'

— प्रिय-प्रवास

यहाँ तो उद्धव चोरों की तरह आये और चोरों की तरह चले गये । मालूम होता है कि डरते थे कि कहीं उन गोपियों के पति उन्हें देख लेंगे तो उनकी हड्डी-पसली तोड़ डालेंगे ।

यह है, सुप्रसिद्ध रोलाबाज़ नन्ददास 'जड़िया' का काव्य-कौशल, जिसके विषय में और कुछ लिखकर मैं अपनी क़लम को घिसना नहीं चाहता ।

अब स्थानाभाव से हम प्राचीन ग्रंथों पर इस लेख में कुछ न लिखेंगे। ऐसा करने से लेख आवश्यकता से अधिक बढ़ जायगा और मुझे आधुनिक काव्य-ग्रंथों पर कुछ लिखने का अवसर न मिलेगा। इसलिये हम दो-तीन आधुनिक ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देकर इस लेख को समाप्त करेंगे।

(५)

सबसे पहले हम 'प्रिय-प्रवास' को लेते हैं। प्रिय-प्रवास हिन्दी-साहित्य को कवि हरिऔध की सबसे बड़ी देन है। यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है। महाकवि की इस रचना में खड़ीबोली की कविता माधुर्य के रस में डूबकर अत्यधिक सरस होगई है।

प्रिय-प्रवास के बहाने कवि ने कृष्ण का आदर्श जीवन-चरित हमारे सामने रक्खा है। इस ग्रन्थ से उन्होंने कृष्ण पर लगाये गये कलंकों को धो दिया है। मध्यकालीन कवियों ने कृष्ण के विषय में विष की जो रेवा नदी बहाई थी उसको पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'-रूपी सहस्रबाहु ने आगे नहीं बढ़ने दिया। उन्होंने उसके सामने प्रिय-प्रवास-रूपी पहाड़ खड़ा कर दिया और वह वहीं-की-वहीं रह गई। जिसतरह रामचरितमानस के द्वारा तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का रूप हमारे सामने रक्खा था, उसीतरह प्रिय-प्रवास के रूप में हरिऔध ने मर्यादा-पुरुषोत्तम कृष्ण का रूप हमारे सामने रक्खा है। अतएव राम-साहित्य में रामचरितमानस की तरह कृष्ण-साहित्य में प्रिय-प्रवास भी एक 'क्रान्तिकारी काव्य' है। वास्तव में, रामचरितमानस के बाद यह हिन्दी का सबसे सरस और सर्वोत्तम महाकाव्य है।

प्रिय-प्रवास खड़ीबोली के काव्यों का पूर्व-पुरुष है। उसमें ब्रजभाषा के काव्यों की मिठास है और अवधी के काव्यों की प्रबन्ध-पटुता। उसमें पंडित अयोध्यासिंह का पांडित्य है और कवि अयोध्यासिंह का कवित्व। उसमें एक साहित्याचार्य की अलंकार-योजना है और एक सहृदय की सहृदयता। उसमें एक प्राचीन कथा है और एक नवीन दृष्टिकोण। उसमें ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि के कौशल हैं और मनुष्य-स्वभाव-सुलभ भूलें। प्रिय-प्रवास एक महापुरुष के मस्तिष्क का समाज है और एक महाकवि के हृदय का रमणीक कुंज। खड़ी-बोली के काव्य-देश का वह जातीय झंडा है। साहित्य के प्रत्येक विचारशील विद्यार्थी के लिये वह गौरव का एक कारण है। इस समय की कविता का वह तीर्थ-स्थान है।

हरिऔध उस जाति के कवि हैं, जिसका आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है। अतएव उन्हें केवल हिन्दू-जाति का कवि समझना भूल है। हिन्दू-जाति समस्त मनुष्य-जाति को अपनाने की नीति का समर्थन करती है। अतएव पंडित अयोध्यासिंह समस्त मनुष्य-जाति के कवि हैं। उनके कृष्ण हिन्दू-जाति ही के रक्षक नहीं, बल्कि वे लोक-रक्षक हैं। वे ईश्वर नहीं, बल्कि मनुष्य हैं; इससे हमारे बहुत नज़दीक आगये हैं।

प्रिय-प्रवास के कृष्ण हमसे पूर्ण-रूप से अपरिचित नहीं हैं। ये वही कृष्ण हैं जिनकी लीलाओं से ब्रज के निवासी स्त्री-पुरुष रस-मग्न होजाते थे। प्रिय-प्रवास में भी उनकी क्रीड़ायें दिखाई पड़ती हैं और उनकी मुरली की ध्वनि सुनाई पड़ती है। ये वही कृष्ण हैं, जो पीत पट पहनते थे, गले में 'बनमाल' धारण करते थे और हाथ में मुरली लिये रहते थे। ये वही

कृष्ण हैं जो गोपियों के सर्वस्व थे। प्रिय-प्रवास की गोपियाँ भी कहती हैं—

'न कामुका हैं हम राज-वेष की,
न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें।
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की,
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी ॥'
—प्रिय-प्रवास

लेकिन प्रिय-प्रवास के कृष्ण विलासी नहीं हैं। वे तो महा-पुरुष हैं। उनका दृढ़ संकल्प है कि—

'प्रवाह होते तक शेष श्वास के,
स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के,
किया करूँगा हित सर्वभूत का ॥'
—प्रिय-प्रवास

उनका उच्च ध्येय है कि—

'विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का,
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का,
मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है ॥'
—प्रिय-प्रवास

वे एक लोक-प्रिय नेता के समान देश और जाति की सेवा करते हुये हमारे सामने आते हैं। उनकी सहायता करने के लिये उनके साथ श्रीमती राधिका-जैसी पतिव्रता और सुसभ्य स्त्री हैं।

श्रीमती राधिका को भी हरिऔधजी ही ने पहले-पहल एक आर्य-स्त्री के रूप में देखा है। कवि ने उन्हें एक विश्व-प्रेमिका के रूप में देखा है। वे अपने दुःख से उतनी दुःखी नहीं होतीं जितना ब्रजवासियों के वियोग-जन्य दुःख को देखकर दुःखी होती हैं!

माता का सच्चा चित्र देखना हो तो यशोदा का चित्रण देखिये। वे कृष्ण के लिये सब-कुछ करने को तैयार हैं, क्योंकि उनका हृदय माता का हृदय है। वे कृष्ण को कंस के पास नहीं भेजना चहतीं और इसके लिये वे सर्वस्व त्याग देने को तैयार हैं।—

> 'लोटा-थाली-सहित तन के वस्त्र भी बेंच दूँगी।
> जो माँगेगा हृदय वह तो काढ़ दूँगी उसे भी॥'

—प्रिय-प्रवास

कृष्ण जब चले जाते हैं तो यशोदा बड़ा विलाप करती हैं। वह विलाप हिन्दी-संसार में बहुत प्रसिद्ध है और करुण-रस का एक अच्छा-से-अच्छा उदाहरण है। उद्धव के मथुरा आने पर वे जिन शब्दों में कृष्ण का समाचार पूछती हैं, वे भी हिन्दी-साहित्य के बड़े भाग्यशाली शब्द हैं क्योंकि उन्हें एक मातृ-हृदय से निकले हुये अतीव स्वाभाविक उद्‌गारों का सौन्दर्य-भार वहन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

सुन्दर शब्द-संगठन और सरस प्रकृति-वर्णन, ये दो प्रिय-प्रवास की अन्य विशेषतायें हैं। भाषा के तो हरिऔध बादशाह हैं। भाषा उनके पीछे-पीछे दौड़ती है। प्रिय-प्रवास की भाषा में स्थान-स्थान पर यमुना की तरह मंद और गंगा की तरह तीव्र

प्रवाह देखने को मिलेगा। स्थान-स्थान पर कविता एक सुप्रवीणा नर्तकी की तरह ठमकती हुई चलती नज़र आती है।—

'कमल-लोचन क्या कल आगये,
पलट क्या कुकपाल-क्रिया गई।
किसलिये ब्रज कानन में उठी,
मुरलिका, नलिका, उरबालिका॥'

—प्रिय-प्रवास

प्रकृति-वर्णन से तो सारा प्रिय-प्रवास ही भरा हुआ है। विविध दृश्यों के नये-से-नये चित्र प्रिय-प्रवास में प्रस्तुत किये गये हैं।

भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण चाहे जिस दृष्टि से इस ग्रंथ-रत्न की परीक्षा कीजिये, यह खरा उतरेगा। प्रिय-प्रवास का अधिकांश भाग आँसुओं से निर्मित है। करुण-रस-भिखारी द्वार-द्वार पर सहृदयता और सहानुभूति की भिक्षा माँगता हुआ घूम रहा है!

प्रिय-प्रवास में अनेक त्रुटियाँ भी हैं; पर इस विषय में मेरे वकील कबीरसाहब का मेरी ओर से यही कहना है कि—

'कबीर मेरे साधु की,
निन्दा करौ न कोय।
जौ पै चन्द्र कलंक है,
तऊ उजारा होय॥'

—कबीर

(६)

प्रिय-प्रवास के बाद मुझे जिस ग्रंथ के विषय में कुछ लिखना है, वह है पंडित रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'पथिक'। जहाँतक

छोड़ने का साहस किया गया है। उसके पहले तो कवि लोग रामायण और महाभारत की कथाओं को बार-बार घोंटते चले आरहे थे। पथिक पहली रचना है, जिसने कवियों को एक खुले हुये मैदान में आकर साँस लेने के लिये आमंत्रित किया है। पथिक पहला काव्य है, जिसने लोगों को गाँवों की ओर जाने के लिये प्रेरित किया है, और जिसने हिन्दी-पाठकों को देश के दुखी अंग का दिग्दर्शन कराया है। यह हिन्दी की पहली रचना है जिसमें अत्याचार-पीड़ित दीनों की आहें सुनाई पड़ती हैं और उनको सुनकर लोग कर्म-मार्ग की ओर क़दम बढ़ाते हुये देखे जाते हैं। वह ग्रंथ पथिक ही है जिसमें इस समय का भारतवर्ष, और शायद कुछ सालों बाद आनेवाला भारतवर्ष भी, पूर्ण-रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है।

पथिक में अतीत का स्वप्न नहीं देखा गया है, बल्कि उसमें आनेवाले दिनों का स्वप्न देखा गया है, जब कर्त्तव्य-मार्ग पर चल-कर हम फिर एक सुराज्य की स्थापना करेंगे। वह स्वार्थ पर त्याग, क्रोध पर क्षमा और पशुता पर मानवता की विजय का आदर्श लेकर सामने आनेवाला खड़ीबोली का पहला प्रबन्ध-काव्य है।

पथिक के विषय में मैंने कुछ नहीं लिखा, पर एक तरह से बहुत लिखा है। इच्छा रखते हुये भी इससे अधिक कुछ न लिखूँगा, क्योंकि अधिक लिखने का मैं अधिकारी नहीं हूँ।

(७)

ठाकुर गोपालशरणसिंह की माधवी भी हिन्दी-साहित्य की आदरणीय रचना है। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने खड़ीबोली में शायद सबसे मधुर कविता की है। खड़ीबोली के शरीर में

उन्होंने ब्रजभाषा का प्राण पहना दिया है। या यों कहिये कि खड़ीबोली के कीचड़ में उन्होंने कमल खिला दिया है। उन्होंने खड़ीबोली में ब्रजभाषा की कविता करके यह दिखा दिया है कि माधुर्य में खड़ीबोली भी ब्रजभाषा से टक्कर ले सकती है और शब्दालङ्कारों की बहार खड़ीबोली में भी वैसी ही ख़ूबी के साथ दिखाई जा सकती है, जैसी ब्रजभाषा में। उनकी कविताओं को पढ़ते समय जान पड़ता है, जैसे हृदय-मंदिर में कोई कोकिल-कंठी कामिनी बैठकर गारही है। उनकी कवितायें उस कुल-वधू की तरह हैं जो परदे में रहती है और जन-साधारण के बीच में नहीं आना चाहती। उनके बीच में पड़कर किसी रसिक-हृदय की वही दशा होजाती है जो सहस्त्रों पद्मिनी स्त्रियों के बीच में अपने को पाकर किसी विलासी राजकुमार की हो सकती है। वे सच-मुच एक रस-सिद्ध कवि हैं।

माधवी में ठाकुर गोपालशरणसिंह की एक-सौ-अरसठ कवितायें संग्रहीत हैं। कविताओं के विषय तो पुराने हैं, पर उनका निर्वाह सर्वथा नवीन है। माधवी का कवि भी वृन्दाबन की गलियों ही में घूम रहा है, पर वह एक हाथ में मुरली लिये हुये है और दूसरे हाथ में सिगरेट भी लिये हुये है। माधवीकार की रचना में प्राचीन और नवीन कला का अपूर्व सम्मिश्रण है।

माधवी की कविताओं की मुख्य विशेषता उनकी सरसता, सरलता और उनके बीच में बहती हुई अनुप्रास-युक्त अलंकृत भाषा का सुमधुर प्रवाह है। इसकी अधिकांश कवितायें माधवी-माधव, प्रेम, वियोग, नारी-सौन्दर्य, शिशु, मुरली, प्रेम-लीला और अनुरोध-जैसे विषयों पर रचित हैं। भाव की दृष्टि से तो ये कवितायें उच्चकोटि की हैं ही, भाषा की दृष्टि से भी इनका

स्थान काफ़ी ऊँचा है। यदि माधवी की कविताओं में से भाव किसी तरह दुह भी लिये जायँ तो केवल भाषा की दृष्टि से भी उनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। गाय दुधार न होने पर भी आदर के योग्य समझी जाती है। माधवी की भाषा कितनी चलती-फिरती, सुसंस्कृत और निखरी हुई एवं प्रवाह-युक्त है, इसके दो-एक उदाहरण देखिये।—

'कर तू रमण मन! मंगल-करण, दुःख-
दीनता-हरण वर राधिका-रमण में।'

—माधवी

'सींचती सुधा जो बसुधा में सुखकारी सदा,
तेरी चित्तहारी सुषमा की बलिहारी है।'

—माधवी

माधवी की रचनाओं में भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त कलात्मक ढंग से हुई है। उनको ग्रहण करने के लिये हृदय को विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे हृदय के बड़े पुराने साथी हैं जो बहुत दिनों तक बाहर भूलने-भटकने के बाद फिर उससे आ मिले हैं। पुरानी-से-पुरानी बात में भी कवि ने एक नया भाव डालकर उसे नवजीवन प्रदान कर दिया है—जैसे पारद-भस्म के प्रयोग से बुड्ढे आदमी को नौजवान बना दिया जाता है। माधवी-कुञ्ज में सरस भावों के मकरन्द से भरे हुये अनेक पुष्प हैं। इस छोटे-से लेख में उन सब का चयन करना कठिन है। कविता-भ्रमरों को उनका रसास्वादन स्वयं करना चाहिये। मैं तो यहाँ पर केवल दो मनोरम उक्तियों को उदाहरणार्थ रखता हूँ।—

'आने से न, जाने से न, मन को गमाने से ही,
मैंने तुम्हें पाया अपने को भूल जाने से ।'

—माधवी

'तन, मन, प्राण में समाया प्राणवल्लभ है,
उसको भुलाना अपने ही को भुलाना है ।'

—माधवी

उपरोक्त पंक्तियों पर मैं अपनी ओर से कुछ टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं समझता। ख़ूबसूरत आदमी को अपनी ख़ूबसूरती के लिये सार्टीफ़िकेट की आवश्यकता नहीं हुआ करती। सरस कवितायें अपना विज्ञापन स्वयं कर लेती हैं।

माधवी में त्रुटियाँ भी हैं। उसकी कई कविताओं में ठाकुर साहब ज़रूरत-से-ज़्यादा नारी-भक्त बन गये हैं। आपको स्वप्न में भी स्त्रियाँ-ही-स्त्रियाँ दीखती हैं और आप उसका हाल भी साफ़-साफ़ शब्दों में अपने दोस्तों को बताने लगते हैं।—

'कैसे बतलाऊँ मित्र ! मैंने सपने में आज,
देखी मृदु मंजु मूर्ति कैसी मनभाई है।'

—माधवी

इसीतरह आप गंगा-स्नान करने जाते हैं तो वहाँ भी भक्ति-भाव छोड़कर नहाती हुई लड़कियों को देखने लगते हैं। मज़ा तो यह है कि आप बिना किसी संकोच के अपने मित्रों को बता भी देते हैं।—

'मैंने आज देखा मित्र ! एक मनोहारी दृश्य,
गंगा में नहाती एक अनुपम बाला थी।'

—माधवी

एक स्थान पर ईश्वर का ज़िक्र करते हुये उसके गौर-वर्ण के विषय में आप लिखते हैं।—

'अकथ अनूप मान निज उच्च शीश पर,
गात की गोराई हिमगिरि ने चढ़ाई है।'
—माधवी

शरीर की गोराई कभी बर्फ़-जैसी नहीं होती। ईश्वर के शरीर में श्वेत-कुष्ट थोड़े ही होगया है कि वह बर्फ़ की तरह लगता है। अच्छा होता यदि ठाकुरसाहब इसे इसतरह लिखते—

अकथ अनूप मान निज गोरे गाल पर,
गात की गोराई अँगरेज़ ने चढ़ाई है।

पर ये नाम-मात्र की त्रुटियाँ हैं। ये ग़लतियाँ उस मछली की तरह नहीं हैं जो सारे तालाब को गंदा कर देती है। वास्तव में, माधवी एक प्रथम कोटि का काव्य-संग्रह है। इसकी कविताओं की सरसता, सरलता और मधुरता के विषय में दो रायें हो ही नहीं सकतीं।

मैं समझता हूँ कि मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है, उससे पाठकों को हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ ग्रंथों के विषय में काफ़ी जानकारी होगई होगी। मैं इसी निबन्ध में श्रीमैथिलीशरणगुप्त के जयद्रथ-वध, श्रीसुमित्रानन्दन पन्त के पल्लव और श्रीमती महादेवी वर्मा के यामा नामक ग्रंथों के विषय में भी कुछ लिखना चाहता था। परन्तु अब देखता हूँ कि ऐसा करना सम्भव नहीं है क्योंकि यह लेख आवश्यकता से कहीं अधिक लम्बा होगया है। अतएव उपरोक्त ग्रंथों की श्रेष्ठता को हृदय से स्वीकार करते हुये मैं इस प्रसङ्ग को समाप्त करता हूँ।

हिन्दी-कविता का सौन्दर्य

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' लिखकर साहित्य-दर्पण-कार ने कविता की अन्तिम परिभाषा नियत कर दी है। कविता को परखने की इससे अच्छी कसौटी न तो पहले थी और न बाद ही में बन सकी। 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'; इस छोटे-से वाक्य-विन्दु में एक महान् अर्थ-सिन्धु छिपा हुआ है। वाक्य को रसात्मक बनाने के लिये अनेक साधनों का आश्रय लेना पड़ेगा। सबसे पहले वाक्य के शब्दमय शरीर में भाव का प्राण फूँकना होगा। उसे अनेक रसों से सींचना होगा और उसके भीतर माधुर्य, प्रसाद और ओज गुण का संचार करना पड़ेगा। बहुत-से अलंकारों की सहायता से उसके रूप को अधिक आकर्षित बनाना होगा। यही नहीं, उस सुसज्जित वाक्य को छन्द के भीतर बन्द करके उसमें उचित मात्रा में संगीत का भी मिश्रण करना होगा। इतना सब करने के बाद तब कहीं वाक्य रसात्मक हो सकेगा।

नाट्य-शास्त्र-कार ने भी अपने ग्रंथ में काव्य के दस गुण लिखे हैं—

'श्लेषः, प्रसादः, समता, समाधिर्माधुर्यमोजः, पद-सौकुमार्यं।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यस्य गुणादशैते ॥'

—नाट्यशास्त्र

कविता के विषय में आचार्य विश्वनाथ और भरत मुनि के विचार प्रायः एक-से हैं। अन्तर इतना ही है कि भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में जो बात खुलेहुये शब्दों में कही थी, आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में उसी को सूत्र-रूप में कह दिया है। कविता के विषय में दोनों ही आचार्यों के मत प्रामाणिक हैं। अतएव किसी भी काव्य-साहित्य की विवेचना करते समय इन्हीं लोगों के मतों को ध्यान में रखकर कुछ लिखना आवश्यक है। 'महाजनो येन गतः स पंथाः।'

कविता को मैं सर्वाङ्ग-सुन्दरी पद्मिनी स्त्री के समान मानता हूँ। जिसप्रकार पद्मिनी स्त्री बचपन में भी युवा स्त्री के समान लावण्यवती लगती है, युवावस्था में तो युवती रहती ही है और वृद्धावस्था में भी यौवन-सम्पन्ना लगती है, उसीप्रकार कविता भी हमेशा एक-सी रहती है। वह कभी पुरानी नहीं पड़ती। वह हमेशा सामयिक बनी रहती है और हरएक युग में नई ही जान पड़ती है। लोग ज्यों-ज्यों उसे पढ़ते हैं त्यों-त्यों वह निखरती जाती है।—

'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।'
—रसराज

हिन्दी की कविता उपरोक्त गुणों से परिपूर्ण है, अतएव वह सौन्दर्य-युक्त है। काव्य के सभी गुण हिन्दी-कविता में पर्य्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। उनका यहाँपर संक्षेप में दिग्दर्शन कराना ही इस लेख का उद्देश्य है। यों तो हिन्दी-कविता की विविध विशेषताओं पर हम आगे के निबन्धों में अलग-अलग विचार करेंगे, पर उनके विषय में यहाँ भी कुछ लिख देना आवश्यक है।

हिन्दी-कविता के दो सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ रामचरितमानस और सूरसागर हैं। कविता का जो भी सौन्दर्य, चाहे वह भाषा-विषयक हो या भाव-विषयक, देखना हो इन ग्रंथों में देखिये। इनको हज़ार बार पढ़ने पर भी तृप्ति नहीं होती और मन में यह लालसा बनी ही रहती है कि कवि ने थोड़ा और लिखा होता तो कितना अच्छा था। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त भी हिन्दी में कई एक-से-एक बढ़कर श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ हैं जो कविता की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

हमें तो यहाँपर हिन्दी के काव्य-ग्रंथों का नहीं बल्कि हिन्दी-कविता का सौन्दर्य देखना है। कविता का प्रधान सौन्दर्य कवि की तन्मयता में अन्तर्हित रहता है। जब कवि वर्णित वस्तु के रस में डूबकर अपना अस्तित्त्व खो देता है, तब असली कविता प्रकट होती है। हिन्दी-कविता में इस तन्मयता की भावना की कमी नहीं है। सूरदास ने कृष्ण की भक्ति में इतना तन्मय होकर उनके विषय में कुछ लिखा है कि हम सूर की कविता का सौन्दर्य छोड़कर उनके द्वारा वर्णित कृष्ण का सौन्दर्य देखने लगते हैं। पढ़ते-पढ़ते ऐसा ज्ञात होने लगता है कि मानों कृष्ण को हम उसी रूप में देख रहे हैं, जिस रूप में वे रहे होंगे या सूर ने उनकी कल्पना की होगी। कबीर की रचनाओं में एक दूसरी प्रकार की तन्मयता देखने को मिलेगी। भक्त भगवान की ज्योति देखने के लिये चला; उसे इतनी अतिरंजित ज्योति दिखाई पड़ी कि वह स्वयं उसी रंग में रँग उठा और ज्योतिर्मय होगया।—

'लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी होगई लाल॥'

—बीजक

हिन्दी-कविता में तन्मयता का एक दूसरा उदाहरण लीजिये। कवि प्रेम के वशीभूत होकर कहता है।—

'होत रहै मन यों मतिराम,
कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु,
ह्वै मुरली अधरारस पीजै॥'

—मतिराम

कविता का दूसरा श्रेष्ठ गुण स्वाभाविकता है। हिन्दी-कविता में स्वाभाविक स्थलों की कमी नहीं है। एक उदाहरण लीजिये। सीता राम के साथ वन-पथ पर बहुत थकी हुई जारही हैं। संकोच-वश वे ठहरकर सुस्ताने के लिये राम से आग्रह नहीं करतीं और पूछती हैं कि हे प्रिय, अभी कितनी दूर चलना है और आज पर्णकुटी कहाँ पर बनाओगे? स्त्री की यह आतुरता देखकर राम की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। इसमें कवि ने अपनी तरफ़ से कुछ नहीं कहा है कि राम की आँखों से अश्रु-धारा क्यों प्रवाहित हो चली; पर पढ़नेवाला तुरन्त सारी परिस्थिति का अनुभव कर लेता है। अगर कवि राम की वेदना को शब्दों में प्रकट कर देता तो पाठक शायद उसको अधिक अनुभव न करते और उसमें कला न रह जाती। वह कविता यह है।—

'पुर ते निकसी रघुबीर-वधू,
धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल-कनी जल की,
पट सूखि गये मधुराधर वै॥

फिर बूझति है चलनोऽब कितै,
पिय, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥'

—कवितावली

यह तो अन्तर्जगत् का स्वाभाविक वर्णन हुआ। बहिर्जगत् का भी एक स्वाभाविक वर्णन देखिये। इसमें ग्रीष्म की एक दोपहरी का वर्णन है। खड़ी दोपहरी है; कुञ्जों की हरियाली है; भ्रमरों का गुंजन है; पेड़ों की शीतल छाया में यात्री पड़े सो रहे हैं; कभी-कभी कोयल कूक उठती है। ऐसे समय में एक सुकुमारी स्त्री अटारी पर बार-बार चढ़कर हँथेली की ओट में से घनश्याम का मार्ग देखती है और उतर आती है। कोई बहुत बड़ी घटना नहीं है। पर इसका वर्णन कितनी स्वाभाविकता से हुआ है, यह दर्शनीय है। कवि ने एक सुन्दर-सा दृश्य आँखों के आगे रख दिया है। चाहे इसका अर्थ कृष्ण के पक्ष में लीजिये या बादलों के पक्ष में लीजिये, दोनों में स्वाभाविकता है। वियोग से व्यथित होने पर स्त्री कृष्ण के लिये व्याकुल होकर उनकी प्रतीक्षा कर रही है, चाहे यह समझिये या यह अर्थ लगाइये कि ग्रीष्म की तपन से घबड़ाकर कोई प्राणी वर्षा-ऋतु के आगमन की प्रतीक्षा में है।—

'खरी दुपहरी, हरी-भरी, फरी कुंज मंजु,
गुंज अलिपुंजन की 'देव' हियो हरि जात।
सीरे नद-नीर, तरु सीतल गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक, पुकारैं पिकी करि जात॥

ऐसे मैं किशोरी भोरी, कोरी कुम्हिलाने मुख,
पंकज-से पायँ धरा धीरज सों धरि जात।
सौंहैं घनस्याम-मग हेरति हँथेरी-ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जात ॥'

—देव

सुन्दर शब्द-संगठन भी कविता की एक बड़ी भारी विशेषता है। सूरदास के बाद तो सुन्दर शब्द-संगठन ही एक प्रकार से कविता का मुख्य गुण माना जाने लगा। शब्दों में बड़ी शक्ति होती है। लोग तो उन्हें इस प्रकार संगठित कर देते हैं कि वे मंत्र बन जाते हैं और उनमें एक अलौकिक शक्ति आजाती है। कविता क्या है? बस शब्दों का एक खेल है। शब्द ही के रूप में हृदय के भाव जन्म लेते हैं। इसलिये शब्दों का स्थान बहुत महत्त्व-पूर्ण है। नीचे हम हिन्दी-कविता के कुछ शब्द-चित्र उपस्थित करते हैं। इनको पढ़ते समय कहीं यह न जान पड़ेगा कि अमुक शब्द अमुक स्थान पर जान-बूझकर जड़ा गया है।

एक वियोगिनी अपने स्वामी के पास वर्षा-ऋतु में संदेश भेज रही है कि हे प्राणपति, मैं सच कहती हूँ कि तुम्हारे पैरों के दर्शन पाकर ही मैं एक प्रकार से फिर अपने प्राणों को पाऊँगी। मैं अकेली होने के कारण भयभीत हूँ, इन्द्रधनुष देखकर (और भी) डरी हूँ और हे घनश्याम, (यदि तुम न आओगे तो) मैं विष की डली खाकर मर जाऊँगी।—

''सेनापति' प्रानपति, साँची हौं कहति, एक
पाइ कै तिहारे पाइ प्रानन को पाइहौं।

इकली डरी हौं, धनु देखि कै डरी हौं,
खाइ बिष की डरी हौं घनस्याम मरि जाइहौं ॥'

—सेनापति

इसीप्रकार भूषण के निम्नाङ्कित पद में शब्दों का सुन्दर प्रयोग देखिये। इसको ज़ोर-से पढ़ते समय नगाड़ों की ध्वनि साफ़-साफ़ सुनाई पड़ती है और स्त्रियों के भागने की चपलता का आभास भी सहज में मिल जाता है।—

'बैयर बगारन की, अरि के अगारन की,
लाँघती पगारन नगारन की धमकैं।'

— छत्रसाल-दशक

देव की एक पंक्ति में शब्द-चमत्कार देखिये।—

'मीन ज्यों अधीनी, गुन कीनी खैंचि लीनी देव,
बंसीवार बंसी डार बंसी के सुरनि सों।'

—देव

जिसप्रकार मछली-फँसानेवाला पानी में बंसी डालकर मछली फँसा लेता है, उसीप्रकार वंशीवाले कृष्ण ने वंशी के सुमधुर स्वर की बंसी डालकर मछली-जैसी गोपिकाओं को अपनी ओर खींच लिया या आकर्षित कर लिया; यही इसका भावार्थ है। बंसी शब्द का कितना सुन्दर प्रयोग है!

सुन्दर शब्द-संगठन के हज़ारों उदाहरण दिये जासकते हैं। पद्माकर आदि इस कला में काफ़ी दक्ष थे। सेनापति कवि की शब्द-योजना की हिन्दी-साहित्य में काफ़ी तारीफ़ है। सेनापति की शब्द-योजना की सबसे बड़ी तारीफ़ यह है कि कोई भी शब्द कहीं निरर्थक नहीं जान पड़ता। नीचे का वर्णन देखिये;

शब्दों की दौड़ में कहीं भी भाव को कुछ आघात नहीं पहुँचा है।—

'मोर हरखन लागे, घन बरखन लागे,
बिन बर खन लागे बरख हजार-से।'

—कवित्त-रत्नाकर

'चैत में प्रभात साथ प्यारी अलसात, तात,
जात मुसकात फूल बीनत गुलाब के।'

—कवित्त-रत्नाकर

शब्दों का सुन्दर प्रयोग देखना हो तो सूरदास की रचना पढ़िये या तुलसी का वाणी-विलास देखिये। भाषा का और भी सौन्दर्य देखना हो तो देव की कविता का रसास्वादन कीजिये।

काव्य में कल्पना और कला का कौशल देखना हो तो बिहारी की कविता में देखिये। दोहों के दो चरणों से इस कवि ने काव्य की सारी दुनिया ही नाप डाली है। साधारण-सी-साधारण बात की छानबीन बड़ी बारीकी के साथ की गई है। उल्लू-जैसी बड़ी-बड़ी आँखें होने से ही नेत्रों में दिल को मोहने की ताक़त नहीं आजाती; उनमें कुछ और ही बात होती है, जिससे दर्शक-गण उनकी ओर आकर्षित होते हैं; इस बात को और इसीप्रकार की सैकड़ों मर्म की बातों को पहचानने की शक्ति बिहारी में थी।—

'अनियारे दीरघ दृगनि,
कितीं न तरुनि-समाज।
वह चितवनि औरै कछू,
जिहि बस होत सुजान॥'

—बिहारी-सतसई

कविता में दार्शनिकता का सौन्दर्य देखना हो तो तुलसी, सूर, कबीर, मीराबाई और महादेवी वर्मा की कविताओं में देखिये। उसीतरह हिन्दी-कविता में संगीत की रागिनी सुननी हो तो भी तुलसी की विनय-पत्रिका पढ़िये, सूर का सूरसागर पढ़िये, कबीर और मीरा के पद पढ़िये, और महादेवी वर्मा के गीत पढ़िये। अच्छे-अच्छे संवाद और सजीव वार्तालाप देखने हों तो तुलसी का रामचरितमानस और केशव की रामचन्द्रिका पढ़िये। कविता में शूर-वीरों का पराक्रम देखना हो और युद्ध का वातावरण देखना हो तो भूषण की वीर-रस से भरी हुई ओजपूर्ण कवितायें पढ़िये।—

'ताव दै दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परे कोट में।'

—भूषण

'आँतन की ताँत बाजी, खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में।'

— भूषण

'रनभूमि लेटे अधकटे अरसेटे परे,
रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं।'

—भूषण

किसी भी चीज़ का यथातथ्य और साङ्गोपाङ्ग वर्णन देखना हो तो सूर के पदों में देखिये। किसीका रूप वर्णन करने लगेंगे तो एँड़ी से लेकर चोटी तक का लम्बा-चौड़ा वर्णन कर लेजायँगे और उसको लाकर शब्दों के पीछे खड़ा कर देंगे। किसी की मनोदशा का चित्रण करने लगेंगे तो अंग-प्रत्यंग की प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म दिग्दर्शन करा देंगे। कविता में

कवियों के सूक्ष्म-निरीक्षण की परीक्षा करनी हो तो तुलसी का सारा काव्य देख जाइये। सरिता-सरोवरों के किनारे जो तृण जमे रहते हैं, उनमें से भी कवि ने एक भाव ग्रहण कर लिया है। कोई डूबने लगता है तो वह उन घासों को अपने बचाव के लिये पकड़ लेता है। ऐसी हालत में या तो घासों के द्वारा उसकी रक्षा हो जाती है, नहीं तो घास स्वयं उसके साथ नुचकर चली जाती है। इसीको लक्ष्य करके तुलसी लिखते हैं।—

'तुलसी तृण जल-कूल को, निरधन निपट निकाज।
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज॥'
—तुलसी

जलाशय के तट का तृण निर्धन है तो क्या हुआ, वह भी शरणागत की सहायता करना अपना धर्म समझता है। या तो वह उसे बचा लेता है, नहीं तो उसीके साथ-साथ स्वयं कर्म की वेदी पर उत्सर्ग होजाता है। सचमुच ग़रीब आदमी की मित्रता ऐसी ही होती है। ग़रीब आदमी मौक़ा पड़ने पर अपने प्राण दे देता है। धनी मौक़ा पड़ने पर अपने मित्र का प्राण लेने में भी नहीं हिचकिचाता।

हमारी कविता में अच्छी-से-अच्छी उक्तियाँ मिलेंगी; नवो रसों में अच्छी-से-अच्छी कविता मिलेगी; सैकड़ों श्रवण-प्रिय छन्दों का प्रयोग मिलेगा और अलङ्कारों की ख़ूब सजावट मिलेगी। अनुप्रास-युक्त कविता ढूँढ़ने चलिये तो उसमें

'रघुनन्द आनँदकंद कोसलचन्द दसरथनंदनम्।'

जैसी सैकड़ों पंक्तियाँ मिलेंगी। उपमा ढूँढ़ने चलिये तो तुलसी की सारी रचना ही दैनिक जीवन से ली हुई मनोरम

उपमाओं से भरी हुई मिलेगी। लड़के नीचे से ढेला मारते हैं तो ऊपर से पका आम टूटकर गिर पड़ता है। इस दृश्य का उपयोग भी तुलसी ने उपमा देने के लिये कर लिया है।—

'तुलसी संत सुअंब तरु, फूलि फलहिं पर-हेत।
इतते ये पाहन हनत, उततें वे फल देत॥'

—तुलसीदास

अच्छे-से-अच्छे रूपकों की भी हिन्दी-कविता में कमी नहीं है।

'राम-कथा सुन्दर कर-तारी।
संसय-बिहँग उड़ावनहारी॥'

—रामचरितमानस

से लेकर बड़े-से-बड़े क्रम-बद्ध रूपक हिन्दी-कविता में भरे पड़े हैं। श्लेष का चमत्कार देखना हो तो सेनापति का 'कवित्त-रत्नाकर' देखिये। सखियों के साथ नायिका लाल रेशम के डोरे में मोतियाँ पिरो रही थी। इतने में कृष्ण आगये। नायिका के मन में वासना जाग्रत हुई। वह सबके सामने स्पष्ट शब्दों में कैसे कह सकती थी! उसने श्लेष का आश्रय लिया और कहा।—

'हित करि, चित दैके, मोतियै परखि लैके,
आज लाल रेसमै सफल करु आइके।'

—कवित्त-रत्नाकर

सखियों ने तो यह समझा कि नायिका कह रही है कि तुम लोग स्थिर-चित्त होकर और अच्छी-अच्छी मोतियों को चुनकर उन्हें लाल रेशम के डोरे में गूँथो। पर कृष्ण उस स्त्री का असली भाव समझ गये।—

'हित करि, चित दैके, मोतियैं परखि लैके,
आज लाल रे ! समै सफल करु आइके।'

—कवित्त-रत्नाकर

(ऐ लाल ! प्रेम करके और मुझमें चित्त को लगाकर और मुझ स्त्री के भाव को समझकर तुम आज आना और मेरे समय को सफल करना)। ऐसे ही सैकड़ों उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। भावाभिव्यक्ति के बीसों ढङ्ग हिन्दी-कविता में प्रचलित हैं, जिनमें से एक अन्योक्ति भी है। अन्योक्तियों से भाव विशेष-रूप से चमक पड़ता है। एक मरते हुये बुड्ढे का अपने परिवारवालों से यह कहना कि अब हमलोग कहाँ मिलते हैं, कुछ ही क्षण में एक-दूसरे से दूर चले जायँगे, उतना असर नहीं कर सकता जितना अन्योक्ति के रूप में एक झड़ते हुये पीले पत्ते का तरुवर से यह कहना—

'पात झरन्ते इमि कहै, सुनु तरुवर बनराय।
अबके बिछुड़े कब मिलैं, दूरि परैंगे जाय॥'

—कबीर

भाव-प्रदर्शन की एक और कलापूर्ण शैली देखिये। बसन्त-ऋतु में प्रियतम बाहर जाने को खड़ा है। नायिका शायद उससे रुकने के लिये आग्रह कर रही है। नायक पावस-ऋतु में आने का वादा करता है। नायिका कहती है कि तुम मेरी ओर देखो; मैं अभी बसन्त को पावस के रूप में परिवर्तित कर देती हूँ— जैसे आकाश में नीले बादल उमड़ते हैं, वैसे ही मैं नीले रंग की लहराती हुई साड़ी पहनूँगी; जिसतरह बादलों में बिजली चमकती है, उसीतरह मेरे दाँत चमकेंगे; बरसात के जुगनुओं का आभास देने के लिये मैं हीरे की कणिकायें जड़ लूँगी;

कोकिला-पपीहा की बोली की तरह मैं अपनी कोकिल-वाणी से इस स्थान को शब्दायमान कर दूँगी; जैसे पानी बरसने से चारों-ओर कीचड़-ही-कीचड़ हो जाता है, वैसेही मैं आँसुओं की झड़ी लगा दूँगी और तुम्हारा बाहर जाना रोक दूँगी; इन्द्र-धनुष की तरह मैं 'बेसर' कस लूँगी और सारे बसन्त को पावस में परिवर्तित कर दूँगी। इस सारी कविता का भावार्थ यह है कि स्त्री प्रियतम से कहती है कि तुम ऋतु पर ध्यान न दो, बल्कि मेरे प्रति प्रेम रक्खो तो तुम्हें प्रत्येक ऋतु सुखदायी लगने लगेगी और तुम मेरे भीतर सभी बातों का समावेश पासकोगे।—

'नील पट तन पर घन से घुमाय राखौं,
दन्तन की चमक छटा-सी बिचरति हौं।
हीरन की किरनें लगाई राखौं जुगनू-सी,
कोकिला-पपीहा पिक-बानी-सों भरति हौं॥
कींच असुवान के मचाय कबि देव कहै,
बालम बिदेस को पधारिबो हरति हौं।
इन्द्र-कैसो धनु साज बेसर कसत आजु,
रहु रे बसन्त, तोहिं पावस करति हौं॥'

—देव

हिन्दी-कविता में कविता के सारे गुण वर्तमान हैं। वह हमारे इतने निकट है कि उसे हम अपने बीच से दूर नहीं कर सकते। वह सर्व-व्यापिनी बन गई है। सभी कोटि के प्राणी उसका रस लेते हैं। साहित्यिक भी उसमें रस लेता है और गँवार भी; राजा भी लेता है और रंक भी। वह चन्द्र-कला की भाँति गिरि, कुंज और ऊसर पर एक-रूप से छिटकी हुई है। वह

उस बादल की तरह है जो मधुवन और मरुस्थल दोनों पर एक ही प्रकार का जल समान भाव से बरसाता है। उसके सौन्दर्य की प्रभा सभी दिशाओं में प्रकाशमान है। यद्यपि तुलसी ने यह लिख दिया है कि 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी', पर हिन्दी-कविता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जीभ के आँख होती है और आँख के जीभ होती है। हम उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हैं।

हिन्दी-कविता में भारतीयता

कविता और स्वदेश का गहरा सम्बन्ध है। लिली पर उतनी सरस रचना नहीं होसकती, जितनी कमल पर होसकती है। देश का बहुत-कुछ असर साहित्य पर पड़ता है। अरब का कवि बादलों की गर्जना सुनकर कहेगा कि ऐसा लगता है, मानों जंगल में बड़े-बड़े ऊँट बड़बड़ा रहे हैं। भारतीय कवि उसमें मदन-महीप के नगाड़े की आवाज़ सुनेगा।

हिन्दी-कविता और भारतीय संस्कृति का चोली-दामन का साथ है। हिन्दी-कविता में भारतीय जीवन का एक-एक अंग प्रतिबिम्बित है। प्राचीन काल से ही इस देश में आध्यात्मिक भावों का बड़ा ज़ोर रहा है। देश के बड़े-से-बड़े मस्तिष्क आध्यात्मिक सत्य की खोज में जीवन-पर्य्यन्त लगे रहे। इन आध्यात्मिक भावों का प्रभाव कविता पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

हिन्दी के पहले आध्यात्मिक कवि कबीरदास हुये। उन्होंने भारतीय ब्रह्मज्ञान से बहुत-कुछ लिया। कबीर का राम और कुछ नहीं, निर्गुण ब्रह्म है। कबीर ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे उपनिषदों में पहले से ही मौजूद थे। कबीर वेद-शास्त्र की निन्दा तो करते थे, पर उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि वे जो-कुछ कह रहे हैं वह वेद-शास्त्रों में वर्णित है। यदि वे विशेष

पढ़े-लिखे होते तो शायद इनकी निन्दा न करके उलटे इनकी तारीफ़ करते। मुण्डकोपनिषद् का निम्नलिखित वाक्य देखिये।—

'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्य रूपं,
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च,
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥'

—मुण्डक

('वह महान्, दिव्य और अचिन्त्य रूप है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है, तथा दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धि-रूपी गुहा में छिपा हुआ है।')

अब मुण्डक के इस कथन से कबीर के सिद्धान्तों की तुलना कर लीजिये। कबीर का 'पुहुप बास तें पातरा' राम यहाँपर पहले से ही मौजूद हैं। 'रस गगन-गुफा में अजर झरै' का अनुभव यहाँ पहले ही हो चुका है। जिस हठयोग पर कबीर ने ज़ोर दिया है, उसकी रूप-रेखा यहाँपर पहले ही से तैयार मिलेगी।

कबीर के प्रायः समस्त दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद के रूप में उपनिषदों में पहले से ही मौजूद हैं। अद्वैतवाद ब्रह्म और जीव को एक मानता है। कबीर भी तो यही कहते हैं कि दोनों एक हैं; उनके बीच में केवल माया का आवरण पड़ा हुआ है।—

'जल में कुंभ, कुंभ में जल है,
बाहर भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहिं समाना,
यह तत कथौ गियानी ॥'

—कबीर

अद्वैतवाद ईश्वर की एक-रूपता और उसकी सर्वव्यापकता का समर्थन करता है। कबीर भी यही कहते हैं।—

'जो खुदाय मसजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा ?'

—कबीर

यह अद्वैतवाद ही का सिद्धान्त है कि संसार में जो-कुछ है, सो परमात्मा ही है; बाकी सब-कुछ मिथ्या है। कबीर ने भी 'साधो ई मुरदन के गाँव' आदि लिखकर इसी मत को स्वीकार किया है। ईश्वर को स्थान-स्थान पर शून्य शहर का निवासी कहकर उन्होंने अद्वैतवाद का पूर्ण-रूप से समर्थन किया है।

इनका—

'बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा मध्ये छाया।
परमातम में आतम तैसे, आतम मध्ये काया ॥'

—कबीर

कुछ नहीं अद्वैतवाद का विश्लेषण है। हरिऔधजी ने कबीर-वचनावली की भूमिका में ठीक ही लिखा है कि कबीर-पंथ वैष्णव-धर्म की एक शाखा-मात्र है। दोनों में काफ़ी समानता है। केवल मूर्ति-पूजा का विरोध और अवतार का विरोध यही दो बातें वैष्णव-धर्म के विरुद्ध हैं। इनका सत्यलोक और वैष्णवों का साकेत एक ही है। कबीर ने ईश्वर के लिये जिस सत्य-लोक की कल्पना की है, उसकी पूरी छानबीन उपनिषद्‌कार पहले ही कर

चुके थे और स्पष्ट शब्दों में लिख चुके थे कि उसका निवास सत्य में है।—

'सत्यमायतनम्'

—केनोपनिषद्

कबीर ने कर्म-काण्ड और मूर्ति-पूजा आदि के विरुद्ध जो-कुछ कहा वह भी भारतीय-साहित्य में पहले ही से मौजूद था।—

'नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
भावे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये॥'

—श्रीमद्भागवत

('तीर्थ पानी के नहीं, देव मिट्टी और पत्थर के नहीं होते। परन्तु देवता भाव में रहता है।')

कबीर हिन्दी-कविता में भारतीयता का सन्देश लानेवाले प्रथम व्यक्ति थे। उनकी सारी कविता भारतीय जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसीके संस्कार के लिये उन्होंने कविता की है।—

'कहै कबीर एक राम जपहु रे,
हिन्दू-तुरक न कोई।'

—कबीर

× × ×

'कण्ठी पहिरे हरि मिलै तो कबिरा बाँधै कुन्दा।'

—कबीर

कबीर के बाद अनेक सन्त हुये जिनकी कृतियों में भारतीय विचार-धारा का प्रवाह उसीप्रकार से प्रवाहित रहा, जिसप्रकार कबीर की कविताओं में प्रवाहित था। उन सबमें ज्ञान-मार्ग, कर्म-काण्ड और निराकार तथा साकार ब्रह्म का विवेचन और यथातथ्य निरूपण है।

कबीर के बाद कविता में भारतीयता का संदेश लानेवाले दूसरे व्यक्ति सूरदास हुये। पर सूर से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति तुलसीदास हुये। तुलसी ने आर्य-संस्कृति को पुनर्जीवित करने के लिये रामचरितमानस-रूपी अमोघ अस्त्र तैयार किया। उनकी समस्त रचना भारतीय आदर्शों के पुनरुद्धार के लिये हुई है। उन्होंने चारोंओर भारतीय लोकनायक राम को व्याप्त कर दिया; और उनकी कविता सूर्य के प्रकाश की भाँति भारतीय जीवन के एक-एक छिद्र में प्रवेश कर गई। तुलसी के राम रावण से नहीं लड़े थे बल्कि तत्कालीन म्लेच्छ शासकों से लड़े थे जो भारतीय संस्कृति को खाये जारहे थे। तुलसी ने लोगों को फिर से प्राचीन भारत की याद दिलाई और वर्णाश्रम धर्म को व्यापक बनाने का आन्दोलन किया। तुलसी ने हिन्दू-समाज से भेद-भाव मिटाकर हृदय-हृदय में भारतीयता की भावना की जड़ जमाने का भगीरथ प्रयत्न किया। राम-भक्त होते हुये भी ग्रंथों के प्रारंभ में उनका शिव और गणेश आदि की स्तुति करने का यही रहस्य था। तुलसी की रचनाओं में भी आध्यात्मिक पक्ष की प्रबलता दिखाई पड़ती है। उन्होंने सगुण-निर्गुण की व्याख्या में काफ़ी कवित्व-शक्ति ख़र्च की है। वे कबीर की तरह ज़िद्दी नहीं थे कि एक ही बात पर अड़े रहते। उन्होंने सगुण-निर्गुण और ज्ञान तथा भक्ति, इन सबको स्वीकार किया और भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करने का आदेश केवल इस दृष्टि से किया कि वह सर्व-साधारण-द्वारा अधिक सुसाध्य है। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में उन्होंने इस विषय में काफी छानबीन की है। ऐसा करने में उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों की ही व्याख्या की है और स्पष्ट ही लिख दिया है कि 'बेद-पुरान-संत-मत भाखौं।'

हमारे यहाँ अमंगल का नाश भी काव्य का एक मुख्य प्रयोजन माना गया है। हमारी रचनाओं में आध्यात्मिक भावनाओं का प्रवेश इसीलिये किया गया है कि उनके द्वारा समाज में सद्-भावों का प्रचार हो और साहित्य-रचना का उद्देश्य सफल हो। मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में लिखा है कि 'यश, धन-प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल का नाश, अल्पकाल में अनायास से परमानन्द-लाभ और कान्ता के सदृश कोमल उपदेश—ये काव्य के प्रयोजन हैं।'

हमारे कवि कभी अपनी भारतीयता को नहीं भूले हैं। उन्होंने हमेशा भारतीय सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर कविता की है। उनके आदर्श हमेशा भारतीय रहे हैं; उनकी कथायें हमेशा भारतीय इतिहास से ली गई हैं; उनके पात्र हमेशा भारतीय ही रहे हैं। हमारी कवितायें धार्मिकता और राष्ट्रीयता के भावों से भरी हुई हैं। विलासी-से-विलासी कवि ने भी ग्रंथ के आदि में सरस्वती या गणेश की वन्दना की है और माया, ज्ञान, भक्ति आदि विषयों पर कुछ-न-कुछ ज़रूर लिखा है। 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' और 'यह भारत भूतल-भूषण है' आदि की भावनायें सदा से हिन्दी-साहित्य में मौजूद थीं। गंगा-यमुना के विषय में न-जाने कितनी कवितायें लिखी गई हैं। देश के शीश पर हिमालय-जैसा सर्वोच्च मुकुट देखकर न-जाने कितने कवियों की छाती गर्व से तन गई है। हमारे यहाँ तो इतना तक हुआ है कि भारत ही को लोगों ने संसार मान लिया है। ऐसा उन्होंने अज्ञान-वश नहीं किया है, बल्कि देश-प्रेम-वश किया है। केशव ने संसार को त्रिकोण लिखा है। यह असंभव है कि संस्कृत के महान् पंडित केशवदास इस बात

से अनभिज्ञ रहे हों कि पृथ्वी गोल है। उनके बहुत पहले भास्कराचार्य स्पष्ट शब्दों में लिख गये थे कि पृथ्वी गोल है।—

'समोयतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी,
च पृथ्वी नितरांतनीयान्।
नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्सना,
समेव तस्य प्रतिमात्यतः सा ॥'

—भास्कराचार्य

('गोले की परिधि का सौवाँ भाग एक सीधी रेखा प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी भी एक बड़ा गोला है। मनुष्य को उसकी परिधि का एक बहुत ही छोटा भाग दीखता है, इसलिये वह चपटी दीखती है।' —मध्यकालीन भारतीय संस्कृति)

असल बात यह है कि केशवदास भारत ही को संसार मानते थे। भारत त्रिकोणाकार है; इसलिये उन्होंने अपने भूतल को त्रिकोण माना है।

हिन्दी-कविता में भारतीय जीवन के कई सुन्दर-सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ दो-एक चित्र देखिये।

— सीता राम-लक्ष्मण के साथ वन को जारही थीं; मार्ग में ग्राम-वधूटियाँ मिलीं। उन्होंने सीता से सहज स्वभाव-वश पूछा कि ये गोरे और साँवले तुम्हारे कौन लगते हैं? सीता ने लक्ष्मण का परिचय तो स्पष्ट शब्दों में दे दिया क्योंकि वे देवर थे, पर राम का परिचय देते वक्त वे कुछ शर्मा सी गईं। इसीसे उन स्त्रियों ने समझ लिया कि श्यामल शरीरवाले राम सीता के पति हैं। एक लज्जावती भारतीय स्त्री का इससे सजीव चित्र क्या अंकित हो सकता है।—

'बहुरि वदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय-तनु भौंह चितै करि बाँकी॥
खञ्जन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥'

—रामचरितमानस

इसीप्रकार सेनापति का निम्नांकित कवित्त भी भारतीय मर्यादा का चित्र अंकित करने में बहुत सफल हुआ है, और अपने इसी गुण के कारण यह हिन्दी-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है।—

'फूलन-सों बाल की बनाई गुही बेनी लाल,
भाल दीन्हीं बेंदी मृगमद की असित है।
अंग-अंग भूषन बनाई ब्रजभूषनजू,
बीरी निज करतें खवाई अति हित है॥
ह्वैकै रस-बस जब दीबे को महावर को,
'सेनापति' स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सों,
कही प्रानपति! यह अति अनुचित है॥'

—कवित्त-रत्नाकर

— कृष्ण ने फूलों से प्रेमिका की वेणी को अलंकृत किया और उसके भाल में कस्तूरी की बिन्दी लगाई; इसके बाद प्रत्येक अंग को अलंकृत करके प्रेमिका को बड़े प्रेम से पान का बीड़ा खिलाया। और भी अधिक रस-मग्न होजाने पर जब उन्होंने प्रियतमा के चरणों में महावर देने के लिये उनको पकड़ा तो भारतीय स्त्री ने प्रियतम का हाथ पकड़कर चूम लिया और कहा

कि स्वामी ! यह (स्वामी के लिये स्त्री का पैर-छूना) अत्यन्त अनुचित कार्य है। यही इसका भावार्थ है। विलासिता के वेग में भी भारतीय स्त्री अपनी मर्यादा को नहीं भूलती, यही इसमें चित्रित किया गया है। भारतीयता के भावों से ओत-प्रोत इस-तरह की सैकड़ों रचनाये उद्धृत की जासकती हैं। तुलसी के मानस में तो सभी श्रेष्ठ पात्र-पात्रियों से भारतीय मर्यादा का पूर्ण-रूप से पालन कराया गया है। वास्तव में, हिन्दी-कविता में सर्वत्र भारतीयता की भावना का वातावरण फैला हुआ है। उसमें भारतीय भावों का अजस्र स्रोत प्रवाहित होरहा है। जबतक कोई भारतीय आदर्शों को नहीं समझ लेता, तबतक वह पूर्ण-रूप से हिन्दी-कविता का रस नहीं ले सकता।

हिन्दी-कविता में स्वाभाविकता

स्वाभाविकता कविता की आत्मा है। उसको कोई देख नहीं सकता, पर पहचान सभी सकते हैं। क्या स्वाभाविक है और क्या अस्वाभाविक, इसकी नामावली गिनाना असंभव है। एक ही वस्तु एक स्थान पर स्वाभाविक लगती है, पर दूसरे स्थान पर जाकर वही अस्वाभाविक होजाती है। जो भोलापन बालक की आकृति में बहुत स्वाभाविक लगता है, वही भोलापन एक शूर-वीर की आकृति में अस्वाभाविक लगता है। इसलिये स्वाभाविकता को परिभाषा के भीतर पकड़ना पारे को चुटकी से पकड़ने के समान है। हृदय पर स्वाभाविकता का जो प्रभाव पड़ता है, उसको समझ सकना तो आसान है, पर स्वयं स्वाभाविकता को समझना एक कठिन कार्य है। उर्दू का एक शेर देखिये—

'महफ़िले यार से उठने को उठे तो लेकिन।
दर्द की तरह उठे गिर पड़े आँसू की तरह ॥'

इसका मर्म समझा जा सकता है, पर दूसरे को ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता। समझाते ही इसका मज़ा उड़ जायगा। अपने दर्द का हाल दूसरे को बताया जा सकता है, पर उस दर्द की पीड़ा का अनुभव दूसरे को नहीं कराया जा सकता। स्वाभाविकता के विषय में भी यही बात है।

स्वाभाविकता को तर्क की कसौटी पर कसना मूर्खता है। गुलिस्ताँ में एक छोटी-सी कथा है कि एक राजा ने किसी अपराध के दंड-स्वरूप एक आदमी का थोड़ा-सा मांस उसके शरीर से कटवा लिया। जब वह आदमी बहुत छटपटाने लगा तो राजा ने दंडनायक से पूछा कि इसके शरीर में से कितना मांस काटा गया होगा? दंडनायक ने जवाब दिया कि क़रीब पावभर। राजा ने दया करके कहा कि अच्छा, इसको उसके बदले में सेर भर मांस दे दो।

अब इसे तर्क की कसौटी पर कसिये तो पावभर के बदले सेरभर मांस देना राजा की उदारता समझी जायगी। पर यह तो हृदय के समझने की बात है कि क्या उस सेरभर मांस से उस तड़पते हुये व्यक्ति की वेदना कम होगई होगी? कविता के विषय में भी तर्क का आश्रय लेना मूर्खता है। उसके विषय में हृदय का निर्णय ही मान्य है। किसी अवसर-विशेष पर जो कार्य या जो वस्तु हृदय को प्रिय लगे वह स्वाभाविक है, जो अप्रिय लगे वह अस्वाभाविक है। कवि और पाठक दोनों के लिये विद्वान् होने की अपेक्षा सहृदय होना अधिक आवश्यक है। हरएक वस्तु जो अपने वास्तविक रूप में रहती है, वह स्वाभाविक लगती है; पर जब वह अपनी सीमा के बाहर चली जाती है तो अस्वाभाविक होजाती है।

हिन्दी-कविता में स्वाभाविकता की खोज करने निकलिये तो शायद आपको निराश न होना पड़ेगा; पर साथ-ही-साथ अस्वाभाविकता की खोज करने चलिये तो बिल्कुल निराश न होना पड़ेगा। हिन्दी-कविता के स्वाभाविक स्थलों का दिग्दर्शन

कराने के पहले हम आवश्यक समझते हैं कि अस्वाभाविक स्थलों के भी कुछ उदाहरण पाठकों के सामने रख दें।

हिन्दी में शृङ्गार-रस के अन्तर्गत काफ़ी मात्रा में अस्वाभाविक रचनायें हुई हैं। सूर का यह वर्णन देखिये—

'रुँधे रति-संग्राम-खेत नीके।
एक-तें-एक रणधीर जोधा प्रबल,
मुरत नहिं नेक अति सबल जीके॥
भौंह-कोदंड, सर-नैन, जोधानि की,
काम छूटनि कटाच्छनि निहारे।
.... ॥'

– सूर

यह वर्णन चाहे कितना भी कवित्वपूर्ण हो, पर अस्वाभाविक है। शृङ्गार-रस की शहद को तलवार की धार में लगाकर चाटने का प्रयत्न किया जारहा है। रति-क्रीड़ा में युद्ध का रूपक बाँधना कभी स्वभाव को प्रिय नहीं लग सकता।

एक और उदाहरण लीजिये। कृष्ण ने वन में बाँसुरी बजाई। गोपियाँ अपना सब-कुछ छोड़कर कृष्ण से मिलने के लिये अत्यन्त आतुर होकर दौड़ पड़ीं। उन्होंने चूल्हे पर चढ़ाये हुये उबलते हुये दूध को छोड़ दिया, गोद में से बच्चे को फेंक दिया और पलँग पर से पति का साथ छोड़कर वे कृष्ण से मिलने को भाग खड़ी हुईं। कृष्ण चाहे देवता हों या परमेश्वर, पर किसी स्त्री के ये कार्य कभी स्वाभाविक और शिष्टतापूर्ण न समझे जायँगे कि वह कृष्ण के प्रति काम के वशीभूत होकर अपने बच्चे को उधर फेंक दे और पति-देवता को अँगूठा दिखा-

कर अपनी वासना की पूर्ति के लिये एक पर-पुरुष से मिलने चली जाय। यह बहुत ही अस्वाभाविक दृश्य है। वासना की वेदी पर वात्सल्य-भाव और शुद्ध प्रेम की गोहत्या की गई है।—

'चूल्हे चढ़े छाँड़े, उफनात दूध भाँड़े,
उन सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं।'

—देव

नखशिख और विरह-वर्णन के अन्तर्गत तो औरभी अस्वाभाविक रचना की गई है। नखशिख-वर्णन में इतनी अतिशयोक्ति की गई है कि नायिकाओं के रूप बहुत ही विकृत हो गये हैं। वे मानवी का रूप खो-बैठी हैं और दानवी होगई हैं। विरह-वर्णन में बड़ी बेरहमी के साथ स्वाभाविकता की हत्या हुई है। नायिकायें वियोग के कारण इतनी कृश-गात होगई हैं कि मृत्यु चश्मा लगाकर उन्हें खोजती है, फिर भी नहीं पाती। सखियाँ कृशांगिनी नायिका को देख ही नहीं सकतीं। बिस्तरे में से वियोगाग्नि की आँच निकलती है, इसीसे वे अनुमान करती हैं कि अभीतक नायिका जीरही है। स्त्री वियोग में गलकर इतनी हलकी होगई है कि जब वह अपने मुँह से साँस निकालती है तो उसीके साथ-साथ वह स्वयं छः-सात हाथ आगे चली जाती है। साँस भीतर खींचते वक्त वह उसीके धक्के से छः-सात हाथ पीछे चली जाती है। इसतरह वह मानों दिनरात झूले पर झूलती रहती है।—

'इत आवति चलि जाति उत, चली छ-सातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासनि साथ॥'

— बिहारी

ऐसे वर्णन चाहे कितने भी चमत्कारोत्पादक हों, पर वे स्वाभाविक नहीं कहे जायँगे।

इसीतरह एक और वियोगिनी महाशया हैं। वे इस बात से दुखी नहीं हैं कि उनका पति परदेश चला गया है, या वियोग के कारण शीघ्र ही उनकी मृत्यु होजायगी। उनको सबसे बड़ा दुःख इस चिन्ता से है कि उनके मरने पर यदि पति मौजूद न रहा तो पर-पुरुष से उनकी लाश छू जायगी क्योंकि वही लोग उन्हें फूँकने ले जायँगे।—

'पिय बिछुरन को दुख नहीं,
 नहीं मृत्यु को भास।
सोच यही पर-पुरुष सों,
 छुइ न जाइ कहुँ लास॥'

—अज्ञात

कितनी अस्वाभाविक कल्पना है! यह प्रसङ्ग तो हमें वैसा ही लगता है जैसे एक लड़की का जो एक कुएँ पर बैठीहुई व्यर्थ के लिये रो रही थी। लोगों ने पूछा कि क्यों रो रही हो, तो उसने कहा कि मैं सोचती हूँ कि एकदिन मेरी शादी होगी, फिर मेरे लड़का पैदा होगा; अगर कभी वह लड़का खेलता-खेलता इस कुँएँ के पास आयेगा और इसीमें गिर पड़ेगा तो मेरी क्या दशा होगी! यही सोचकर मैं रो रही हूँ।

एक और स्त्री है, जो इन्हींकी तरह पतिव्रता है। उसके बच्चा ही नहीं पैदा होता। घर के बुज़ुर्ग लोग उसके पति से रोज़ बिगड़कर कहते हैं कि तुम्हारी स्त्री बाँझ है, इसे छोड़कर दूसरी शादी कर लो। स्त्री स्वयं बाँझ कहलाना पसन्द करती

है, पर पति की क़लई नहीं खोलती कि असल में ये ही हज़रत नपुंसक हैं। यह बात भारतीय स्त्री की सहनशीलता प्रकट करने के लिये चाहे जितनी भी वज़नदार समझी जाय पर काव्य में शोभा नहीं पा सकती। काव्य में ऐसी प्राइवेट बातों की क्या ज़रूरत ?—

'गुरुजन दूजे ब्याह कों, प्रतिदिन कहत रिसाइ ।
पति की पत राखे बहू, आपुन बाँझ कहाइ ॥'

—मतिराम-सतसई

यह तो हुई हिन्दी की मुक्तक रचनाओं की बात । हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में भी अनेक ऐसे स्थल हैं जो बिलकुल अस्वाभाविक जान पड़ते हैं ।

पद्मावत में रतनसेन ने पद्मावती के साथ विवाह करने पर इतना अधिक भोग-विलास किया कि वह घबड़ा उठी और हाथ जोड़कर बोली कि—

'पै सुनु बचन एक पिय मोरा ।
चाखौ पिय रस थोरा-थोरा ॥'

—पद्मावत

जब वह सुबह सखियों में गई तो सखियों ने मज़ाक किया कि तुम तो सुकुमारता के कारण—

'सहि न सकौ हिरदै पर हारू ।
कैसे सहा कंत कर भारू ॥'

—पद्मावत

ये बातें किसी भी अच्छे काव्य को दूषित करने के लिये पर्याप्त हैं। व्यक्तिगत बातों का समावेश किसी काव्य में क्यों

होना चाहिये ! इन बातों को उद्धृत करने के कारण मेरा यह लेख तक अस्वाभाविक होगया है; जायसी के काव्य की तो बात ही दूसरी है ।

केशव लड़ाई के मैदान में मंदोदरी के कंचुकी-रहित उरोजों का वर्णन करने लगे हैं, जो बहुत ही अस्वाभाविक लगता है । प्रियप्रवास में उद्धव का चित्र देखिये, बहुत ही अस्वाभाविक है । ये हज़रत ब्रज में कृष्ण का संदेश लेकर आये थे, लेकिन जब देखिये तब कुंजों में बैठकर गोपियों का भेद लेते हुये मिलेंगे । जब कहीं खोजने से नहीं मिलते तो गोपियाँ कहती हैं कि चलो देखो, किसी कुंज में बैठे गुनगुनाते होंगे । वहाँ उनकी खोज होती है तो वे सचमुच मिल जाते हैं । बाबू मैथिलीशरण गुप्त के साकेत में तो अस्वाभाविकता प्लेग की तरह फैली हुई है । सीता अपने वन के जीवन की गाथा गारही हैं—जैसे वे कोई आशु-कवि हैं कि अपने सब विचारों को कविता-बद्ध कर सकती हैं ।—

'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया ।
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया ॥
सम्राट् स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं ।
देते आकर आशीष स्वयं मुनिवर हैं ॥
धन तुच्छ असंख्य यहाँ यद्यपि आकर हैं ।
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं ॥
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया ।
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया ॥'

—साकेत

अस्वाभाविकता के हैज़े का प्रकोप देखना हो तो इन्हीं गुप्तजी के यशोधरा नामक काव्य में देखिये । गौतम के जाने के बाद शुद्धोधन विलाप कर रहे हैं—

'चला गया रे, चला गया ।
छला न जाय हाय ! वह, यह मैं
छला गया रे, छला गया ॥
खींचा मैंने गुण-सा तान ।
निकल गया वह बाण-समान ॥
ममते, तेरा मान महान ।
दला गया रे दला गया ॥
छला गया रे, छला गया ।
..........................॥'

—यशोधरा

क्या इसीतरह आलंकारिक भाषा में विलाप किया जाता है ?

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में अस्वाभाविकता का और कोई उदाहरण देखना हो तो पंडित रामनरेश त्रिपाठी-कृत स्वप्न उठा लीजिये । कथा का नायक उत्तेजनात्मक शब्दों में भीड़ के आगे भाषण कर रहा है—

'देश आत्म-बलिदान तुम्हारा,
माँग रहा है आज वीरवर !
दिग्विजयी वीरों के वंशज,
युवको, उठो संगठित होकर ॥

—स्वप्न

उसी भीड़ में, उसी प्रसंग में और उसी भाषण में वह वेदान्त की गंभीर बातें झाड़ने लगता है—

'त्रिगुणात्मक है जगत यहाँपर,
कोई नहीं पदार्थ हानिकर।
भला-बुरा उनका प्रयोग ही,
है सुख-दुख का हेतु यहाँपर ॥'

—स्वप्न

उत्तेजित भीड़ के आगे ये आध्यात्मिक बातें बिल्कुल अस्वाभाविक लगती हैं। कविता में विद्वत्ता दिखाने की प्रवृत्ति ने कविता की स्वतंत्र मनोहरता को बिल्कुल नष्ट कर दिया है।

अब इस विषय के दूसरे पहलू को लीजिये। हिन्दी-कविता का भाण्डार स्वाभाविक रचनाओं से ख़ाली नहीं है। पहले सूर की रचनायें लीजिये। सूर ने एक-से-एक बढ़कर ऐसे स्वाभाविक चित्र खींचे हैं कि विधाता को सृष्टि-रचना का गर्व ही न रह गया होगा। सूर ने शब्दों के सहारे सजीव प्राणी खड़े कर दिये हैं। हिन्दी-कविता में स्वाभाविकता का आनन्द लेना हो तो सूर के बाल-कृष्ण का वर्णन देखिये। कृष्ण मक्खन चुराते हुये पकड़े गये और उनसे जवाब तलब किया गया। कृष्ण ने बाल-स्वभाव-सुलभ सरलता से जवाब देकर, कि मैं तो इस धोखे में आगया था कि यह मेरा घर है, इसीलिये गोरस में चींटी पड़ी देखकर उसको निकालने के लिये मैंने हाथ डाला था, साफ़ हो निकल गये।—

'मैं जान्यो यह घर अपनो है, या धोखे में आयो।
देखतु हौ गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो ॥'

—सूर

कृष्ण ब्रज से मथुरा चले गये; उससमय गोपियाँ उनकी एक-एक बात को याद करके रोती हैं। शाम होती है तो वे याद करती हैं कि जब कृष्ण यहाँ रहते थे तो इतनी वक्त वन से गायें चराकर ब्रज को लौटते थे और दूर ही से ओठों पर मुरली रखकर बजाते हुये आते थे। यह कितनी स्वाभाविक कल्पना है। हरएक व्यक्ति के जीवन में कभी-न-कभी ऐसे अवसर आते हैं और उस अवसर पर वह वैसी ही बातों को याद करता है जैसी सूर की गोपियाँ कृष्ण के लिये याद कर रही हैं।—

'येहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥'

—सूर-सागर

जहाँ उच्चकोटि की कविता होगी, वहाँ उसमें स्वाभाविकता होगी, यह तो एक मानी हुई बात है। तुलसीदास की रचना तो आदि-से-अंत तक स्वाभाविकता के पवन से आन्दोलित है। भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और भावों का स्वाभाविक चित्रण उनकी प्रत्येक पंक्ति में देखने को मिलेगा। राम वन को चले गये हैं, कौशिल्या बैठकर उनके लिये 'सगुन' डाल रही हैं। माँ के आतुर हृदय का बहुत ही स्वाभाविक चित्रण है।—

'बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहु काग फुरि बाता॥
दूध-भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय-सहित बिलोकि नयन-भरि रामलषन उर लैहौं॥'

....

—गीतावली

इसमें शब्दों और मुहावरों का भी विषयानुकूल प्रयोग बहुत स्वाभाविक ढंग से हुआ है। गीतावली ही से एक दूसरा स्वाभाविक चित्र लीजिये। राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ वन में से होकर जारहे हैं। उससमय का उनका वर्णन बड़ी ही स्वाभाविक रीति से कवि ने किया है।—

'खेलत चलत करत मग-कौतुक,
बिलमत सरित सरोवर-तीर।
तोरत लता सुमन सरसीरुह,
पियत सुधा-सम नीर॥
बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर,
पुनि-पुनि बरनत छाँह समीर।
देखत नटत केकि कल गावत,
मधुप मराल कोकिला कीर॥'

—गीतावली

कवितावली में लङ्का-दहन का प्रसङ्ग देखिये। अकुलाई हुई राक्षस-पत्नियों की व्याकुलता का अपूर्व चित्रण है। उनके मुख से निकली हुई बातें बहुत स्वाभाविक और समयोचित हैं।—

"'तुलसी' बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
'चित्रहूँ के कपि सों निसाचर न लागिहैं।"

—कवितावली

'लेहु अब लेहु तब कोऊ न सिखायो मानो,
सोई सतराइ जाइ जाहि-जाहि रोकिये।'

—कवितावली

तुलसी के रामचरितमानस में तो सैकड़ों स्वाभाविक स्थल हैं। उदाहरण के लिये अयोध्याकांड में वर्णित दशरथ का वियोग-

वर्णन लीजिये। करुण-रस से ओत-प्रोत दशरथ का विलाप तो कवि ने बहुत स्वाभाविकता के साथ लिखा ही है, पर उस अवसर के लिये उसने जो भूमिका तैयार की है, वह और भी अधिक स्वाभाविक है। उससे वह प्रसङ्ग और भी करुणोत्पादक होगया है। यही नहीं कवि जिसप्रकार से करुण-रस की एक-एक सीढ़ी पर क़दम रखता हुआ ऊपर चढ़ा है, उस गति में भी बड़ी स्वाभाविकता है। हृदय में करुण-रस का संचार बहुत धीरे-धीरे कराया गया है। फिर इस करुण-रस की तीव्रता को कम करने का अन्त में जो प्रयत्न किया गया है, वह भी स्वाभाविक है। हिन्दी-कविता की स्वाभाविकता का इससे अच्छा उदाहरण शायद ही कोई मिले।

राम वन को चले गये। सुमन्त्र रथ लेकर अपनी भाग्य-लेखा को दोष देते हुये खड़े रह गये।—

'हृदय न बिदरेउ पंक-जिमि,
बिछुरत प्रीतमु नीर।
जानत हौं मोहिं दीन्ह बिधि,
येह जातना सरीर॥'

—रामचरितमानस

इसके बाद वे आकर एक पेड़ के नीचे बैठ गये और सोचने लगे कि दिन में अयोध्या जाना ठीक नहीं, क्योंकि राम के वियोग से पागल सारी पुरी मेरी ओर उमड़ पड़ेगी और मैं लोगों को कैसे जवाब दूँगा कि मैं राम को वापस नहीं ला सका। इसलिये वे शाम तक वहीं बैठे रहे और अँधेरा होने पर अयोध्या आये। शाम को प्रकृति में एक प्रकार की निस्तब्धता रहती है और वह ऐसा समय होता है जबकि हृदय की वेदनायें अधिक तीव्र हो

जाती हैं। कवि को करुणा से भरी हुई एक शोकपूर्ण घटना का वर्णन करना था; इसलिये उसने संध्या-काल का लाना भी उचित समझा और ऐसे ही समय में सुमन्त्र को अयोध्या में प्रवेश कराया है।—

'बैठि बिटप तर दिवसु गँवावा।
साँझ समय तब अवसरु पावा।।
अवध प्रबेसु कीन्ह अँधियारे।
पैठ भवन रथु राखि दुवारे।।'

—रामचरितमानस

यह शाम का समय था जबकि साधारण पत्ती भी दिनभर चारा चुगने के बाद अपने घोंसलों में लौट आते हैं, दिनभर मज़दूरी करके मज़दूर भी अपनी-अपनी झोपड़ियों में पहुँच जाते हैं और थका हुआ राही भी किसी सुपरिचित स्थान में डेरा डालता है; पर अयोध्या के चक्रवर्त्ती सम्राट् के पुत्र और पुत्रवधू घर छोड़कर वन को चले गये थे। प्रातःकाल का वियोग विशेष नहीं खलता क्योंकि तब तो आशा बँधी रहती है कि कौन-जाने सुबह का भूला-भटका शाम को आजाय, पर शाम होजाने पर तो सारी आशायें ही टूट जाती हैं। शाम को अयोध्या-नरेश के मंत्री ने राजभवन में प्रवेश किया। लोग प्रतीक्षा में बैठे थे कि महामंत्री किसी युक्ति से राम-लक्ष्मण और सीता को वापस लेकर लौटते होंगे, पर वे तो अकेले लौटे। राजभवन ऐसा भयानक लगता था, मानों वहाँ आदमी नहीं, प्रेत निवास करते हों। मंत्री का आगमन सुनते ही सारा रनिवास विकल हो उठा।—

'सचिव आगमन सुनत सबु,
बिकल भयेउ रनिवासु।

भवनु भयंकरु लाग तेहि,
मानहु प्रेत-निवासु ॥'
—रामचरितमानस

सुमन्त्र दशरथ के पास गये। राजा अमृत-रहित चन्द्रमा की भाँति सार-हीन होगये थे। मंत्री ने जैसे ही महाराज का अभिवादन किया, तैसे ही व्याकुल राजा उठ बैठे और बोले कि 'कहो सुमन्त्र, राम कहाँ हैं।' उनको कुछ आशा हो चली कि कौन जाने राम भी वापस आये हों। सुमन्त्र को देखकर शोक-समुद्र में डूबते हुये राजा को कुछ सहारा मिला। राजा उन्हें नज़दीक बैठाकर अत्यन्त विह्वल होकर पुत्र और पुत्र-वधू का समाचार पूछने लगे।—

'जाइ सुमंत्र दीख कस राजा।
अमिय-रहित जनु चंद बिराजा॥
....

देखि सचिव जयजीव कहि,
कीन्हेउ दंड प्रनामु।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति,
कहु सुमन्त्र, कहँ रामु॥
भूप सुमन्त्र लीन्ह उर लाई।
बूड़त कछु अधार जनु पाई॥
सहित सनेह निकट बैठारी।
पूछत राउ नयन भरि बारी॥
राम-कुसल कहु सखा सनेही।
कहँ रघुनाथ-लषन-बैदेही॥
....

पुनि-पुनि पूँछत मंत्रिहि राऊँ ।
प्रियतम सुअन सँदेस सुनाऊ ॥'

—रामचरितमानस

राम का हाल जानने के लिये दशरथ की व्यग्रता बढ़ती जा रही थी। सुमन्त्र सारी कथा सुना ले गये कि कहाँतक वे राम को रथ पर बैठाकर ले गये और रामसे और उनसे क्या-क्या बातें हुईं। जब वे यह कहने लगे कि बहुत मनाने पर भी राम नहीं लौटे और उनकी नाव उनको लेकर चल पड़ी तो उनका गला रुँध गया। दशरथ को पूर्ण विश्वास होगया कि राम चले गये और अब उनसे भेंट नहीं हो सकती। यहीं से असली वियोग-वर्णन प्रारंभ होता है। राजा विह्वल होकर भूमि पर गिर पड़े और विलाप करने लगे। वे बार-बार उठकर बैठ जाते थे और पूछने लगते थे कि सुमन्त्र, जल्दी बताओ राम कहाँ हैं, लक्ष्मण कहाँ हैं, सीता कहाँ हैं; अब मैं उस शरीर को रखकर क्या करूँगा जिसने मेरा प्रेम का व्रत भी नहीं निभाने दिया। राजा को ऐसा जान पड़ने लगा कि राम के बिना उनको जीते हुये कई युग बीत गये। वियोग की थोड़ी अवधि भी बहुत जान पड़ती है।—

'सूत बचन सुनतहि नर-नाहू।
परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा।
धीरजु हू कर धीरजु भागा॥
धरि धीरजु उठि बैठु भुआलू।
कहु सुमंत्र, कहँ राम कृपालू॥
कहाँ लषन, कहँ राम सनेही।
कहँ प्रिय पुत्र-बधू बैदेही॥

सो तनु राखि करबि मैं काहा ।
जेहि न प्रेम-पनु मोर निबाहा ॥
हा रघुनन्दन प्रान-पिरीते ।
तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते ॥
हा जानकी, लषन, हा रघुबर ।
हा पितु-चित-हित-चातक-जलधर ॥'

—रामचरितमानस

बस, इसके बाद राजा राम, सीता और लछमण की याद करते-करते मर गये। करुण-रस चरम-सीमा पर पहुँच गया। कवि ने समझ लिया कि पाठक के मन में कितनी वेदना होगी। उसने करुण-रस की तीव्रता को कम करने के लिये वेदान्त की बात ला दी।—

'जियन-मरन-फल दसरथ पावा ।
अंड अनेक अमल जसु छावा ॥'

—रामचरितमानस

इससे पाठक के मन का दुःख कुछ हलका होगया है और वह राम के प्रति दशरथ के हृदय की वेदना को समझने के लिये फिर सामर्थ्यवान् हो गया है। दशरथ दिव्य-लोक को चले गये, इससे उनके लिये शोक-व्यथित होने का कोई कारण न रह गया। पाठकों के मन को एक नये दुःख के बोझ से दबने से कवि ने बचा लिया; साथ-ही-साथ दशरथ के पूर्वोक्त वियोग-वर्णन पर कोई आघात भी नहीं पहुँचने दिया। यह कवि की कविता है और इसी को कवि का कौशल कहते हैं। पुत्र के लिये पिता के वियोग का यह सर्वोत्कृष्ट नमूना है। हिन्दी

का यह प्रथम श्रेणी का वियोग-वर्णन है। इसकी एक-एक पंक्ति से स्वाभाविकता टपक रही है।

तुलसी के विषय में अधिक लिखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनकी बातें तो सभी जानते हैं। रीतिकालीन कवियों में मतिराम की कविता में सबसे अधिक स्वाभाविक चित्र देखने को मिलेंगे। मतिराम बड़े सूक्ष्म-दर्शी कवि थे। मन की विविध दशाओं से वे ख़ूब परिचित थे; इससे आशा-निराशा से उत्पन्न हुई शारीरिक चेष्टाओं को वे बहुत स्वाभाविकता के साथ चित्रित कर सके हैं। मन में कोई भाव उठने पर शरीर पर उसके क्या चिह्न प्रकट होते हैं, इसको वे ख़ूब जानते थे। चाँदनी रात में बहुत प्रतीक्षा के बाद भी यदि प्रियतम नहीं आता तो युवती स्त्री के दिल को बड़ी चोट लगती है; ख़ासकर जब उसको यह विश्वास हो जाता है कि उसका स्वामी शायद किसी पर-स्त्री के पास चला गया होगा। एक ऐसी ही नवयुवती का चित्रण करते हुये मतिराम ने अपनी कवित्व-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है।—दो-घड़ी रात बीत गई; रात्रि की प्रगाढ़ता भी बढ़ गई; प्रिय नहीं आये; उधर चाँद भी निकल आया। इन बातों से कामिनी के मन में बड़ी वेदना हुई। वह शय्या पर जाकर अकेली ही चुपचाप लेट गई। उसका मुख पीला पड़ गया। वह सहेली से भी कुछ न बोली, क्योंकि वेदना किसी से कहने की चीज़ थोड़े ही है, वह तो अनुभव करने की चीज़ है। मतिराम ने बड़ा ही स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है।—

'बीत गई जुग जाम निसा,
'मतिराम' मिटी तम की सरसाई।

जानति हौं कहुँ और तिया सों,
रहे रस में रमि के रसराई ॥
सोचति सेज परी यों नवेली,
सहेली सों जात न बात सुनाई ।
चन्द चढ़्यो उदयाचल पै,
मुख-चन्द पै आनि चढ़ी पियराई ॥'

—रसराज

इसीप्रकार का मतिराम का एक और स्वाभाविक चित्र है। —एक स्त्री मिलनोत्सुक होकर संकेत-स्थल में गई। जाते समय उसका हृदय इतना आशावंत था कि प्रसन्नता के मारे उसका मुख-मंडल दमक रहा था। उसके सामने चाँद की कला भी फीकी पड़ गई थी। जब संकेत-स्थल में विलासी न मिला तो उसकी आशा निराशा में बदल गई, हृदय पिस गया और चेहरा पीला पड़ गया। अब उसमें वह सौन्दर्य न रह गया कि वह चाँद से बाज़ी लगा सके। अब तो चाँद एक-प्रकार-से उसका उपहास कर रहा था।—

'चंद को हँसत तब आयो मुख-चंद, अब
चन्द लाग्यो हँसन तिया के मुख-चन्द को।'

—रसराज

इसमें शक नहीं कि मतिराम स्वाभाविक चित्रों को अंकित करने में प्रायः अश्लील होगये हैं, पर उन्होंने कही वही बातें हैं जो आमतौर से सबपर घटती हैं। उनकी स्वाभाविकता पर कोई उँगली नहीं उठा सकता। मैं समाज पर कोई ग्रंथ नहीं लिख रहा हूँ कि किसी बात को सिर्फ़ अश्लील होने के कारण छोड़

दूँ। मुझे तो उसमें काव्य का रूप देखना है। अश्लील होते हुये भी मतिराम की कवितायें इतनी स्वाभाविक हैं कि केवल अश्लील होने के कारण उन्हें अस्वाभाविक नहीं क़रार दिया जासकता। मतिराम के कुछ और चित्र देखिये।

—एक स्त्री रात को अपने प्रियतम के पास जारही है। सीढ़ी पर पैर रखते वक़्त उसकी किंकिणी बजती है तो वह गुरुजनों की लज्जा के कारण जीभ को दाँतो-तले दबा लेती है। स्त्री की तत्कालीन मनोदशा का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण है।—

'सोइबे को सेज चली प्रानपति प्यारे पास,
　　जगत जुन्हाई जोति हँसनि तनक ते।
चढ़त अटारी गुरु लोगन की लाज प्यारी,
　　रसना दसन दाबै रसना झनक ते॥'

—रसराज

इसीप्रकार मतिराम-सतसई का निम्नलिखित दोहा देखिये। इसमें एक नायिका का वर्णन है जो रात में गुरुजनों के सोजाने पर अपने प्रिय के पास धीरे-धीरे जारही है। इतने धीरे-धीरे जारही है कि अटारी की सीढ़ी इतनी लम्बी जान पड़ती है जैसे एक कोस लम्बी हो। मन में स्त्री की चाल की कल्पना कीजिये तो आपको इसमें वर्णित दृश्य की स्वाभाविकता का ज्ञान सहज ही में होजायगा :—

'सजि सिँगार सेजहिँ चली, बाल प्रानपति प्रान।
चढ़त अटारी की सिढ़ी, भई कोस परिमान॥'

—मतिराम-सतसई

मतिराम ही का एक तीसरा चित्र देखिये। नायिका के 'गौने' की तैयारी हो रही है। सहेलियाँ कंचन का 'बिछुवा' पहनाने

लगीं। एक सखी ने पहला 'बिछुवा' पहनाते वक्त परिहास किया कि ईश्वर करे ये तुम्हारे प्रियतम के कानों के समीप सदा बजते रहें। कामिनी ने सखी को कमल से मारने के लिये हाथ उठाया, पर संकोच-वश मार न सकी। यह ज़रा अश्लील ज़रूर है, पर अत्यन्त ही स्वाभाविक चित्र है और स्वाभाविक परिहास का एक अच्छा-से-अच्छा उदाहरण है।—

'गौने के द्यौस सिँगारन कों,
'मतिराम' सहेलिन को गनु आयौ।
कंचन के बिछुआ पहिरावत,
प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ॥
'प्रीतम स्रौन-समीप सदा बजै',
यौं कहिकै पहिलै पहिरायौ।
कामिनी कंज चलावन कौं,
कर ऊँचो कियो पै चल्यो न चलायौ॥'

—रसराज

इसीतरह मतिराम का विश्रब्ध-नवोढ़ा के विषय में लिखा हुआ सवैया भी बहुत स्वाभाविक है। पर वह ज़रा अधिक अश्लील है, इसलिये मैं उसे उद्धृत नहीं करना चाहता—यद्यपि स्वाभाविकता की दृष्टि से मैं उसकी गणना हिन्दी के सर्वोत्तम पद्यों में करता हूँ।

अवसर-विशेष पर मुख-मुद्रा का स्वाभाविक चित्रण देखना हो तो पद्माकर की इस पंक्ति में देखिये।—

'नैन नचाइ कही मुसकाइ,
लला! फिरि आइयो खेलन होरी।'

—जगद्विनोद

अब एक स्त्री-हृदय की स्वाभाविक उमंग का एक उदाहरण देकर मैं इस लेख को समाप्त करूँगा। यह प्रवीणराय वेश्या की उक्ति है। वह सुहागरात मनाने के लिये इन्द्रजीतसिंह के पास जारही है। वह चन्द्रमा से प्रार्थना करती है कि ऐ चन्द्र! आज तुम बहुत मन्द-मन्द गति से चलना, जिससे रात्रि ख़ूब लम्बी हो और मैं अपने प्रियतम से जी-भरकर ख़ूब देरतक मिल सकूँ।—

'बैठि परयंक पै निसङ्क ह्वै भरौंगी अङ्क,
करौंगी अधर-पान मैन मत्त मिलियो।
मोहिं मिलैं इन्द्रजीत धीरज नरिन्दराय,
ऐहो चन्द! आजु नेकु मन्द गति चलियो॥'

—प्रवीणराय

मैं समझता हूँ कि मैंने पाठकों के सामने इतने अधिक उदाहरण रख दिये हैं कि हिन्दी-कविता में कितनी स्वाभाविकता है, इसका ज्ञान उनको सहज ही में होजायगा। वास्तव में, हिन्दी की कवितायें बहुत स्वाभाविक हुई हैं, क्योंकि एक तो हमारे यहाँ के प्रायः सभी प्रमुख कवि काव्य-शास्त्र के अच्छे पंडित थे; दूसरे, उन्हें अनुभवी होने के सभी साधन प्राप्त थे। केवल थोड़े से अच्छे कवि ऐसे हुये हैं, जिन्होंने असली शुक्ति में से नहीं, बल्कि पट पर चित्रित शुक्ति में से मुक्ता निकालने का प्रयत्न किया है।

लेकिन कितने?

—केवल दो-चार।

हिन्दी-कविता में वर्णन-विशेषता

'तैं बरने निज बैनन-सों सखि,
मैं निज नैननि सों मनु देखे।'
—मतिराम

मैं लिख चुका हूँ कि हिन्दी में वर्णनात्मक कविताओं की बाहुल्यता है। कहीं ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति के लम्बे-चौड़े वर्णन हैं, कहीं नायिका-भेद के अन्तर्गत नारी-सौन्दर्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है और कहीं विरह-वर्णन के अन्तर्गत तन और मन की विविध दशाओं का वर्णन है। इन वर्णनों में अतिशयोक्तियों, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार है और कल्पना की अच्छी उड़ानें भरी गई हैं। शब्दालङ्कारों की भी अच्छी बहार इनमें देखने को मिलती है। कवि लोग अपनी सारी शक्ति लगाकर लम्बे-चौड़े वर्णन करते थे और जब थक जाते थे तो तुरन्त सरस्वती, गणेश और शेषनाग की याद दिला देते थे कि ये लोग भी वर्णन करें तो पार न पा सकेंगे।—

'गनै कौन चम्पत की जीतैं।
गनपत गनै तऊ जुग बीतैं॥'
—लाल (छत्र-प्रकाश)

वर्णनात्मक कविताओं की प्रधानता हिन्दी में आदि-काल से ही रही है। हिन्दी के आदि-कवि चन्द-बरदायी की रचना

में युद्ध, शृङ्गार, वन, उपवन, प्रभात और मृगया आदि के बड़े विस्तृत वर्णन मिलते हैं। जायसी ने अपने पद्मावत में वन और नख-शिख आदि के लम्बे-चौड़े वर्णन किये हैं। पर, जायसी के अधिकांश वर्णन बिल्कुल व्यर्थ के हैं। वनों आदि के वर्णन में वह पेड़ों की सूची देता चला गया है। इसीप्रकार

'भूँजि समोसा घी महँ काढ़े।
लौंग मिरिच तेहि भीतर ठाढ़े॥'

—पद्मावत

आदि व्यर्थ के वर्णनों से पद्मावत भरा हुआ है। ये बातें किसी रसोइये के काम आसकती हैं, कोई काव्य-प्रेमी इनको लेकर क्या करेगा?

सूरदास के वर्णन वास्तव में हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। यद्यपि सूर ने भी व्यर्थ के विधान खूब रचे हैं, पर उन्होंने अपने वर्णनों में प्राण फूँक दिया है। उन्होंने बीसों नख-शिख लिखे, पर सब नये हैं। उन्होंने सैकड़ों विरह-वर्णन लिखे, पर कहीं भी पुनरुक्ति नहीं आने दी। कृष्ण के हज़ारों चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। कहीं वे बाल-लीला कर रहे हैं, कहीं मुरली बजा रहे हैं, कहीं गायें चराकर लौट रहे हैं, कहीं रास-मंडल रचे हुये हैं, कहीं वे पर-स्त्री के यहाँ रात बिताकर आये हैं और खंडिता नायिका के मुख से अपने अस्त-व्यस्त रूप का वर्णन सुन रहे हैं। इसतरह के स्थलों का सूर ने साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है, पर अन्त तक कहीं शिथिलता नहीं आने दी है। उन्होंने तरह-तरह की उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी बाँध दी है। प्राकृतिक दृश्यों का भी उन्होंने अच्छा वर्णन

किया है। उनका दावनल-विषयक वर्णन देखिये तो उसका शब्द-संगठन इतना सुन्दर हुआ है कि पढ़ते समय दावानल की भयानकता का भाव सहज ही में उसके भीतर से उमड़ता हुआ-सा दीखता है।

वर्णन करनेवालों के तो सूर राजा थे। तुलसी भी उनसे घटकर न थे। तुलसी ने भी सैकड़ों स्थलों, मनोभावों और परिस्थितियों के बड़े हृदयहारी वर्णन किये हैं। तुलसी-द्वारा प्रस्तुत कई दृश्यों का वर्णन पढ़ते समय कहीं-कहीं तो ऐसा ज्ञात होता है कि आप काव्य नहीं पढ़ रहे हैं बल्कि आँखों से सचमुच कोई दृश्य देख रहे हैं। तुलसी ने अपने वर्णनों में बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया है। उन्होंने ऋतुओं, वन, सरोवरों, युद्ध और अयोध्या तथा राम के सौन्दर्य आदि का बड़ा ही हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है। उनका फुलवारी-वर्णन अपनी मौलिकता और स्वाभाविकता के लिये काफ़ी प्रसिद्ध है। तुलसी ने विवाहों का वर्णन भी बहुत स्वाभाविक ढंग से किया है। पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामचरितमानस में विवाह की रीतियों का वर्णन देखिये तो ऐसा ज्ञात होगा जैसे तुलसीदास जन्म से ही पुरोहिती करते आये हैं। एक भी विधि छूटने नहीं पाई है।

तुलसीदास ने अनेक रूपक-बद्ध वर्णन भी किये हैं। स्वयं रामचरितमानस का उन्होंने एक विशद रूपक बाँधा है। कैकेयी और नदी का रूपक देखिये। उस समय का वर्णन है जब कैकेयी दशरथ से वर माँग रही थी—

'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी।
मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥

पाप-पहार प्रगट भइ सोई।
भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ-धारा।
भँवर कूबरी बचन प्रचारा।
ढाहति भूप-रूप तरु-मूला।
चली बिपति-बारिधि अनुकूला॥'
—रामचरितमानस

तुलसी ने अनेक स्थलों का ऐसा सजीव वर्णन किया है कि मालूम होता है कि आँख से देखते जाते थे और क़लम से लिखते जाते थे। कवितावली में लंका-दहन का प्रसङ्ग देखिये। हनुमान इतनी तेज़ी से दौड़-दौड़कर आग लगा रहे हैं कि मालूम होता है वे एक ही नहीं हैं, बल्कि उन्हींकी तरह सैकड़ों बानर हैं जो ऊपर-नीचे, बाग-बग़ीचों, गली-बाज़ारों, अटारी-दरवाज़ों और सभी दिशाओं में दौड़ रहे हैं। लोगों को भय-वश ऐसा लगता है, मानों तीनों लोकों में बानर-ही-बानर भर गये हैं। डर के मारे वे आँख मूँद लेते हैं तो हृदय में बानर की याद करके चौंक पड़ते हैं। आँख खोलते हैं तब तो वह सामने ही खड़ा हुआ मिलता है। वे व्याकुल होकर चारोंओर दौड़ते हैं पर कहीं छिपने की जगह नहीं मिलती। सब चिल्लाते हुये घूम रहे हैं कि लो अब मज़ा चक्खो, जब रोकते थे कि इससे मत लगो तो सब ऐंठ जाते थे, अब देखो क्या होता है। तुलसी ने शब्दों के सहारे जो चित्र बना दिया है, वह कुशल-से-कुशल चित्रकार भी अपनी तूलिका-द्वारा नहीं बना सकता।—

'बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिये।

अध-ऊर्ध बानर, बिदिस-दिसि बानर हैं,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये ॥
मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो,
धाइ-जाइ जहाँ-तहाँ और कोऊ को किये ?
'लेहु अब लेहु तब कोऊ न सिखाओ मानो,
सोई सतराइ जाइ जाहिं-जाहि रोकिये ॥"
—कवितावली

केशव के वर्णन भी हिन्दी-संसार में काफ़ी प्रसिद्ध हैं। सूदन ने अपने 'सुजानचरित' में वर्णन-शक्ति के अच्छे चमत्कार दिखाये हैं। पर सूदन ने अपने वर्णन ज़रूरत-से-ज़्यादा विस्तृत कर दिये हैं; इससे वे बहुत ही अस्वाभाविक होगये हैं। वे एक-एक क़िस्म की चीज़ों के नाम गिनाने लगे हैं तो बिना दम मारे हुये गिनाते चले गये हैं। अगर राजा ने बनिये की दूकान लूटी है तो सूदन सब मसालों के नाम गिना लेगये हैं। जहाँतक मुझे याद है, उन्होने एक बनिये की दूकान के लगभग ३२५ मसालों आदि के नाम गिनाये हैं। इसीतरह हलवाई की दूकान लूटी गई है तो वे सभीतरह की मिठाइयों के नाम गिना लेगये हैं। उनके युद्ध के वर्णनों में भी मुझे उच्चकोटि के ओजपूर्ण वर्णन देखने को नहीं मिले। बस, शब्दों की धमाधम्म और घमाघम्म है, और कुछ नहीं।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी प्रिय-प्रवास में प्रकृति का और विरह-दशा का काफ़ी हृदय-ग्राही वर्णन किया है। परन्तु प्रकृति-वर्णन में उन्होंने भी यत्र-तत्र जायसी, केशव और सूदन की नाम गिनानेवाली परिपाटी का अनुकरण किया है। वृन्दाबन के वर्णन में वे सभी वृक्षों के नाम गिना लेगये

हैं, लेकिन वहाँ के सबसे मुख्य वृक्ष करील का नाम भूल गये हैं, जिसके प्रति रसखान ने लिखा है कि—

'कोटिन हू कलधौत के धाम,
करील के कुंजन ऊपर वारौं।'
—सुजान-रसखान

हिन्दी-कविता की वर्णन-विशेषता के कुछ उदाहरण देखिये। एक प्रकार के वर्णन तो वे हैं जिनमें कवि लोग कल्पना को नहीं, बल्कि सत्य को आधार मानकर चले हैं। ऐसे वर्णनों में किसी भी वस्तु का या किसी भी दृश्य का अथवा किसी भी व्यक्ति का वास्तविक चित्र खींच दिया गया है। इस प्रकार के वर्णन का सबसे सुन्दर उदाहरण रतनाकर कवि के 'हरिश्चन्द्र' नामक काव्य में 'श्मशान' के वर्णन में देखने को मिलता है; पर वह ज़रा लम्बा होने के कारण यहाँ पर उद्धृत नहीं किया जा सकता। रतनाकरजी के 'गंगावतरण' में गंगावतरण का वर्णन भी बहुत स्वाभाविक हुआ है।

नीचे हम देव कवि का एक कवित्त देते हैं। इसमें देखिये एक सुन्दर दृश्य कितनी स्वाभाविकता के साथ अंकित हुआ है। बिल्कुल एक चित्र-सा खींच दिया है—लताओं में से मंद-मंद चन्द्रकला छिटकाता हुआ चैत्र की रात्रि का चन्द्रमा मंद-मंद गति से उदयाचल पर आरहा है; मंद-मंद बहती हुई यमुना नदी सुन्दर लता और सुमनों से मिलकर मन्द-मन्द हिलोरें लेरही है; शीतल-मंद-सुगंध पवन बह रहा है; इतना सुन्दर दृश्य है कि कामदेव भी उसको देखकर क्षण-क्षण पर क्षीण हो रहा है। ऐसे रमणीक दृश्यों में से कृष्ण ओठों पर मुरली रखकर मंद-मंद बजाते हुये मन्द-मन्द गति से निकले।—

'मंद-मंद चढ़ि चल्यो चैत-निसि-चंद चारु,
मंद-मंद चाँदनी पसारत लतन तें।
मंद-मंद जमुना-तरंगिनी हिलोरैं लेत,
मंद-मंद मोद मंजु मल्लिका-सुमन तें॥
देव कवि, मंद-मंद सीतल-सुगंध पौन,
देखि छबि छीजत मनोज छन-छन तें।
मंद-मंद मुरली बजावत अधर-धरे,
मन्द-मन्द निकस्यो मुकुन्द मधुबन तें॥'

—देव

दृश्य की कल्पना तो सुन्दर है ही। उसका वर्णन जिस ख़ूबी के साथ हुआ है, वह विशेष-रूप से देखने के योग्य है।

दूसरे प्रकार के वर्णन वे हैं जिनमें कल्पना से अधिक काम लिया गया है। ऐसे वर्णनों में अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की भरमार है। हिन्दी के विरह-वर्णन प्रायः ऐसे ही हैं; प्रकृति-वर्णन भी प्रायः ऐसे ही हैं और नख-शिख-वर्णन भी प्रायः ऐसे ही हैं। इन तीनों पर हम अलग-अलग लेखों में आगे कुछ लिखेंगे। ऐसे कल्पना-प्रधान वर्णनों की हिन्दी में बिलकुल कमी नहीं हैं। साधारण कवियों की रचनाओं में भी अच्छे-अच्छे चमत्कार-पूर्ण वर्णन मिल जायँगे।

इसप्रकार के आलङ्कारिक वर्णन पढ़ने हों तो केशव का राम-राज्य-वर्णन पढ़िये, मतिराम का बूँदी-वर्णन या गज-वर्णन पढ़िये और रीतिकालीन कवियों के विरह-वर्णन पढ़िये। ऐसे वर्णनों में कुछ खींचतान ज़रूर करनी पड़ती है, पर ऐसा करने से वे काफ़ी ज़ोरदार होजाते हैं। ऐसी रचनाओं के केवल दो-एक

उदाहरण मैं यहाँ पर प्रस्तुत करके इस लेख को समाप्त करता हूँ।

—यश का रंग काव्य में श्वेत माना गया है। इसीके आधार पर भूषण शिवाजी के धवल यश का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि ऐ शिवाजी ! आपकी उज्ज्वल कीर्ति दशों-दिशाओं में इतनी प्रकाशमान् है कि उसके प्रकाश में सभी सफ़ेद चीज़ें खो-सी गई हैं और तैंतीसों करोड़ देवता आश्चर्य-मग्न हैं। उसके शुभ्र प्रकाश में इन्द्र का सफ़ेद ऐरावत हाथी दिखाई ही नहीं पड़ता; इन्द्र उसे खोजता फिरता है, विष्णु को क्षीर-सागर ही नहीं दीखता। उस सफ़ेदी में ब्रह्मा का हंस आकाश-गंगा को ढूँढ़ता फिरता है और ब्रह्मा अपने हंस को खोजते हैं कि वह कहाँ गया। चन्द्रमा तो तुम्हारी कीर्ति की ज्योति के आगे दिखाई ही नहीं पड़ता। उसे चकोर चारोंओर ढूँढ़ रहा है। शिवजी अपने कैलाश-पर्वत को ढूँढ़ते हैं, पर पाते नहीं। पार्वतीजी गौर-वर्णवाले शिवजी को ढूँढ़ रही हैं कि वे कहाँ गये। सब शिवाजी के उज्ज्वल प्रकाश में डूब गये हैं।—

'इन्द्र निज हेरत फिरत गज-इन्द्र अरु,
इन्द्र को अनुज हेरै दुगध-नदीस को।
भूषन भनत, सुर-सरिता को हंस हेरै,
बिधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को॥
साहि-तनै सिवराज करनी करी है तैंजु,
होत है अचम्भो देव कोटियो तैंतीस को।
पावत न हेरे तेरे जस मैं हिराने निज,
गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को॥'

—शिवराज-भूषण

'घन में किस प्रियतम से चपला,
करती है विनोद हँस-हँसकर।
किसके लिये उषा उठती है,
प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर॥
मंजु मोतियों से प्रभात में,
तृण का मरकत-सा सुन्दर कर।
भरकर कौन खड़ा करता है,
किसके स्वागत को प्रतिवासर॥'

—स्वप्न

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने भी हिन्दी में प्रकृति के कुछ अछूत दृश्यों का बड़ा ही हृदयहारी वर्णन किया है और प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता को देखने और दिखाने का प्रयत्न किया है। उनकी 'हृदय का मधुर भार'-शीर्षक रचना काफ़ी प्रसिद्ध है।

अबतो हम प्रकृति से बहुत दूर चले आये हैं। इसलिये यह आशा करना व्यर्थ है कि निकट-भविष्य में हिन्दी-कविता में कवि लोग प्रकृति का अधिक ललित वर्णन करेंगे। जो कुछ है, उसीको बहुत समझना चाहिये। प्रकृति के उत्कृष्ट वर्णन हिन्दी में कम ज़रूर हैं, पर हैं ज़रूर। जो हैं, वे अवश्य ही उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट हैं।

हिन्दी-कविता में विरह-वर्णन

(१)

प्रकृति-वर्णन की तरह विरह-वर्णन की भी हिन्दी-कविता में अधिकता है। पर हिन्दी-कविता में उच्चकोटि के विरह-वर्णन कम पढ़ने को मिलते हैं। अधिकांश विरह-वर्णन केवल मज़ाक-से जान पड़ते हैं। वे दिमाग़ से निकले हैं और नक़ली हैं। उनको पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि किसी को असली वेदना नहीं है और सब रोनेवाले किराये पर बुलाये गये हैं। कुछ विरह-वर्णन ज़रूर ऐसे हैं जो सचमुच विरह-वर्णन हैं और पाठक के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने की शक्ति रखते हैं। वे अवश्य ही हिन्दी-कविता के लिये गौरव-स्वरूप हैं और किसी भी भाषा की कविता के लिये गौरव-स्वरूप हो सकते हैं।

हिन्दी-कविता के अन्तर्गत दो प्रकार के विरह-वर्णन हुये हैं। एक तो सन्तों का विरह-वर्णन है। ऐसे वर्णनों में परमात्मा के लिये आत्मा का विरह वर्णित है। ऐसे वर्णनों में काव्य की ज़राभर भी मिठास नहीं है। उनमें दर्शन-शास्त्रों की महान् शुष्कता है। हम इसप्रकार के विरह-वर्णन की यहाँपर चर्चा करना अनावश्यक समझते हैं। कबीर आदि की रचनाओं में ऐसे विरह-वर्णन काफ़ी मात्रा में मिलते हैं।

दूसरी तरह के विरह-वर्णन वे हैं जिनमें सचमुच विरह-रूपी ब्राह्मण वेदना-रूपी छुरी से हृदय-रूपी सेब को कतरता हुआ नज़र आता है । ऐसे विरह-वर्णन स्त्री-पुरुषों से सम्बन्ध रखते हैं। विरह को आचार्यों ने विप्रलम्भ-शृंगार के अन्तर्गत माना है, जिसका स्थायी-भाव रति है । इसलिये शुद्ध विरह-वर्णन वही होगा जिसका सम्बन्ध नायक-नायिका से होगा । यों तो सूर ने कृष्ण के लिये गायों का विरह चित्रित किया है, तुलसी ने राम के लिये उनके घोड़ों का विरह दिखाया है । उसीतरह तुलसी ने राम के लिये दशरथ, सुमन्त्र, भरत तथा अन्य अयोध्यावासियों का विरह भी लिखा है। हरिऔधजी ने प्रिय-प्रवास में कृष्ण के लिये यशोदा का तथा अन्य ब्रज-वासियों का विरह बड़े मार्मिक शब्दों में व्यंजित किया है । पर ये विरह-वर्णन बहुत हृदय-स्पर्शी होते हुये भी शुद्ध विरह-वर्णन नहीं हैं, क्योंकि ये शृंगार-रस के अन्तर्गत नहीं आते । हम तो इस निबन्ध में केवल नायक-नायिका से सम्बन्ध रखनेवाले विरह-वर्णनों पर कुछ लिखेंगे, जिनकी हिन्दी-साहित्य में भरमार है !

विरह को हिन्दी-कवियों ने काफ़ी महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है । विप्रलम्भ-शृंगार के अन्तर्गत बहुत काफ़ी मात्रा में विरह-वर्णन हुआ है । विरह पर फुटकर रचनायें तो बहुत ज़्यादा हुई ही हैं, साथ-ही-साथ प्रबन्ध-काव्यों में भी विरह-वर्णन की उपेक्षा नहीं की गई है । हिन्दी-कवियों ने विरह-प्रधान अनेक काव्य लिखे हैं । बहुत-से और भी काव्य ऐसे हैं जो विरह-प्रधान नहीं हैं, पर उनमें विरह-वर्णन के अतिरिक्त और कोई विशेषता है ही नहीं ।

हम इस लेख में पहले हिन्दी के उच्चकोटि के विरह-वर्णनों

को लेते हैं। हिन्दी में सर्वोत्तम विरह-वर्णन सूरदास का है। सूर ने ब्रज-विरह-वर्णन में क़लम तोड़ दी है। उनकी लेखनी से स्याही नहीं बल्कि आँसू की बूँदें टपकी हैं। 'परदेसी' कृष्ण की छोटी-से-छोटी बातों की स्मृति दिलाकर कवि ने गोपियों को ख़ूब रुलाया है। उन्होंने गोपियों को 'पिया बिनु साँपिनि कारी राति' का ठीक-ठीक अनुभव करा दिया है। जिन कुंजों में कभी कृष्ण विहार करते थे, उन्हीं कुंजों को सूना देखकर गोपियों को जो मर्म-व्यथा होती है, सूरदास उसको पहचानने में समर्थ हैं और लिखते हैं।—

'बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब वे लता लगति अति सीतल,
अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥'

—सूरदास

विरहिणी गोपिकायें कृष्ण के पास संदेशों का ढेर लगा देती हैं। कोई भी पथिक उस राह से मधुपुरी की ओर जाने लगता है तो वे अपना सँदेसा कहने के लिये उसका मार्ग रोक लेती हैं। अंत में पथिकों ने उस रास्ते से जाना तक छोड़ दिया क्योंकि सँदेसे-पर-सँदेसे लेजाते-लेजाते वे ऊब गये।—

'कहाँ लौं कहिये ब्रज की बात।
....
सूर स्याम-संदेसन के डर पथिक न वहि मग जात॥'

—सूरदास

गोपियाँ विरहाग्नि में जलने का मज़ा जानती हैं, तभी वे ज्ञानान्ध उद्धव से कहती हैं।—

'ऊधो, मनमाने की बात
जरत पतंग दीप में जैसे औ फिर-फिर लपटात ॥'
—सूरदास

सूर ने 'भ्रमरगीत' के अन्तर्गत विरह पर सैकड़ों पद लिखे हैं। उनमें सचमुच हृदय को आन्दोलित करने वाले वेदनापूर्ण उद्‌गार हैं। विरह का इतना विशद वर्णन अन्य भाषाओं के कवियों की रचनाओं में भी कम देखने को मिलेगा, जितना सूर की रचना में मिलता है।

सूरदास के भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों की देखा-देखी हिन्दी के कई कवियों ने उन्हीं के आधार पर प्रबन्ध-काव्य रचे। पर उनमें प्रेम की वह तड़प न आसकी जो सूर के पदों में है। नन्ददासजी 'जड़िया' ने भी एक भँवरगीत लिखा है। उनके भँवरगीत का मुख्य उद्देश्य उद्धव को उल्लू बनाना है। सत्यनारायण आदि ने भी भँवरगीत लिखे हैं, पर वे व्यर्थ की रचनायें हैं। स्वर्गीय रत-नाकरजी ने भ्रमरगीत के आधार पर उद्धव-शतक लिखा है। उसमें भी स्त्री-हृदय की अन्तर्वेदना देखने को कम मिलती है। हाँ, ज़बानी करतब ख़ूब देखने को मिलता है। सूरदास के भ्रमरगीत को कोई नहीं पासका है। उसके आगे सबकी कृतियाँ जूठी-सी लगती हैं।

जायसी के पद्मावत में नागमती का विरह-वर्णन काफ़ी भाव-पूर्ण है। वह बारहमासा के नाम से बहुत विख्यात् है। नागमती के विरह-वर्णन पर हम पिछले पृष्ठों में काफ़ी लिख चुके हैं।

तुलसी ने भी विरह का स्वाभाविक वर्णन किया है। उन्होंने व्यर्थ के लिये कल्पना की लम्बी-चौड़ी छलाँगें नहीं लगाई

हैं। रामचरितमानस में सीता-हरण होजाने के बाद उन्होंने विरही राम का अच्छा चित्र खींचा है। राम अधीर होकर तृण-लता-गुल्म से सीता का पता पूछते हुये घूमते हैं।—

'हे खग-मृग, हे मधुकर-श्रेणी !
तुम देखी सीता मृग-नैनी ॥'

—रामचरितमानस

उसीतरह विरहिणी सीता की भी उन्होंने अच्छी मूर्ति तैयार की है। जब हनुमान सीता को खोजते हुये लंका में उनके पास पहुँचे तो उनको देखकर सीता के मन का बोझ कुछ कम होगया। पर जब वे चलने लगे तो सीता का मन फिर कुछ-कुछ मुरझाने लगा क्योंकि उन्होंने समझ लिया कि हनुमान के जाने के बाद मैं फिर इस अनजाने देश में अकेली रह जाऊँगी और मुझे ढाढ़स बँधानेवाला कोई न रहेगा। आशा के बाद की निराशा बहुत खलती है। वे हनुमान को विदा देती हुई बोलीं कि तुमको देखकर एकबार हृदय शीतल होगया था, कल से तो मुझे फिर दिनरात उसी वियोग में जलना होगा। उनके इस कथन में एक विरहिणी की बड़ी मनोवेदना छिपी हुई है।—

'तोहिं देखि सीतल भइ छाती।
पुनि मोकहँ सोइ दिन सोइ राती॥'

—रामचरितमानस

तुलसी ने बरवै-रामायण में विरह का और भी मनोहर एवं हृदयाघाती वर्णन किया है। सीता को राम के वियोग में चाँदनी धूप की तरह जलती हुई मालूम पड़ती हैं और सारा संसार जलता हुआ-सा लगता है।—

'डहकनु है उजियरिया, निसि, नहिं घाम।
जगत जरत अस लागइ, मोहिं बिनु राम ॥'

—बरवै-रामायण

सेनापति ने भी विरह पर कुछ अच्छे कवित्त लिखे हैं। वर्षा-ऋतु में स्त्रियों को विरह का अनुभव अधिक होता है। जिसतरह बसन्त-ऋतु में पुरुषों में काम-वासना अधिक रहती है, उसीप्रकार वर्षा-ऋतु में स्त्रियों में उसकी अधिकता रहती है। इसीलिये पुराने ज़माने में प्रवासी पति कहीं भी रहने पर वर्षा-ऋतु में घर अवश्य लौट आते थे। विरहिणियाँ वर्षा-ऋतु की प्रतीक्षा में बैठी रहती थीं। जब वर्षा के आने पर भी पति नहीं लौटता था तो उनके दिल को बड़ी चोट लगती थी। सेनापति ने एक ऐसी ही विरहिणी का वर्णन किया है। उसे सावन की रातें प्रिय-वियोग के कारण बहुत लम्बी जान पड़ती हैं। वे वामन-रूपी भगवान की डगों की तरह लम्बी जान पड़ती हैं और बिताये नहीं बीततीं।—

'दूरि जदुराई 'सेनापति' सुखदाई देखो,
आई ऋतु पावस, न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी,
औ दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ ॥
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ॥'

—कवित्त-रत्नाकर

प्राचीन कवियों में घनानन्द ने अपने सुजान-सागर में सुजान वेश्या के विरह में कई अच्छे पद्य लिखे हैं। यद्यपि मैं आँख मूँदकर घनानन्द को एक श्रेष्ठ कवि मान लेने को तैयार नहीं हूँ, पर इतना तो मानता ही हूँ कि उनके विरहोद्गार काफ़ी स्वाभाविक हैं और हृदय से निकले हैं। उनमें ऊपरी कारीगरी नहीं की गई है। विरही कवि बादल से प्रार्थना करता है कि तुम जीवनदायक हो, कभी मेरी मर्म-व्यथा पर भी ध्यान दो और मेरे आँसुओं को लेजाकर मेरी प्रणयिनी के आँगन में बरसा आओ।—

'घनआनँद जीवन-दायक हौ,
कछु मोरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन,
मों अँसुवान को लै बरसौ॥'

—सुजान-सागर

ग़रीब गिरिधर कविराय ने भी ग़रीब विरहिणियों के कुछ सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। एक स्त्री, जिसका पति कमाने के लिये बहुत दिनों से विदेश गया हुआ है, कहती है।—

'सोना लेने पी गये, सूना करि गये देस।
सोना मिला न पी फिरे, रूपा ह्वैगये केस॥
रूपा ह्वैगये केस, रोय रँग-रूप गँवावा।
सेजन को बिसराम, पिया-बिन कबहुँ न पावा॥
कह गिरिधर कबिराय, लोन-बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौं लै सोना॥'

—गिरिधर कविराय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी विरह पर कुछ अच्छी उक्तियाँ कही हैं।—

'बिना प्रानप्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
मरे हू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी।'

—हरिश्चन्द्र

आधुनिक कविता में विरह का वर्णन बहुत सावधानी और सफलता के साथ हुआ है। पंडित 'हरिऔध' उपाध्याय के प्रिय-प्रवास में स्थल-स्थल पर विरह-वर्णन की अच्छी छटा देखने को मिलती है। विरह-वेदना से व्यथित एक बालिका के मुख से कवि ने सत्य ही कहला दिया है कि।—

'जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था,
तब स्मृति रचने में कौन-सी चातुरी थी।
यदि स्मृति विरचा तो क्यों उसे है बनाया,
उर-क्षिति बहु पीड़ा-बीज निक्षेपकारी॥'

—प्रिय-प्रवास

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने पथिक में पथिक-पत्नी के रूप में एक विरहिणी का सजीव चित्र खींचा है। विरहिणी रोज़ सुबह-शाम अपने घर के पास के रास्ते को साफ़ कर रखती थी, क्योंकि वह सोचती थी कि उसी मार्ग पर चलकर कभी-न-कभी उसके प्रियतम घर वापस आयेंगे।—

'मार्ग बुहार-बुहार थकी मैं, प्रतिदिन साँझ-सबेरे।
हार गई मैं बाट जोहती, आये नाथ न मेरे॥

कोई आकर प्रियतम का कुछ सन्देशा कह जाता।
जाते हुये प्राण से आग्रह आँखों का रह जाता॥'

—पथिक

जब ज्येष्ठ-मास में लू चलती थी तो वह बैठकर चिन्ता करती थी कि न-जाने इससमय मेरे पथिक एक निराश्रित व्यक्ति की भाँति कहाँ, किस पेड़ की छाया में बैठकर जुड़ाते होंगे।—

'हवा होगई प्राण-हारिणी, हुये जल-स्थल ताते।
मेरे पथिक सघन छाया में, होंगे कहीं जुड़ाते॥'

—पथिक

बरसात के दिनों में वह सोचती थी कि मेरे स्वामी पता नहीं कहाँ होंगे—शायद कहीं किसी पेड़ के नीचे अकेले खड़े होकर पानी से भीगते होंगे।—

'रिमझिम बरस रहे सावन-घन, उमड़-घुमड़ अलबेले।
तरु-तल कहीं भीगते होंगे, मेरे पथिक अकेले॥'

—पथिक

किसी वियोगिनी के चारोंओर दौड़ते हुये चिन्तातुर हृदय के ये प्रथम कोटि के उदाहरण हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में उर्मिला के विरह का वर्णन बहुत ही उत्तमता के साथ हुआ है। 'साकेत' के नवम सर्ग में उर्मिला के मुख से निकले हुये अनेक विरह-गीत बहुत ही मार्मिक हुये हैं। साथ ही कवि की ओर से उर्मिला की विरह-दशा का चित्रण भी सुन्दर हुआ है। वियोग की समस्त दशाओं को कवि ने बड़े कौशल के साथ चित्रित किया है। उर्मिला एक तेजस्वी बालिका की भाँति विरह-वेदना को सहती

है। वह व्यर्थ के लिये चन्द्र आदि को कोसती नहीं। वह समस्त प्रकृति में अपने प्रिय की व्याप्ति का अनुभव करती है। वह प्राकृतिक वस्तुओं के साथ मनोविनोद करती है। उर्मिला के विरह-वर्णन के सबसे सुन्दर स्थल वे हैं, जहाँ वह सुख से भरी हुई अपनी पूर्व-स्मृतियों को जागृत करती है और यह अनुभव करती है कि आज 'विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है।' प्रेमी लक्ष्मण के साथ की हुई अनेक क्रीड़ाओं को याद करके वह विरह-सागर में डूब जाती है।—

'एकदिन मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि,
रिम-झिम बूँदें पड़ती थीं मनभाई थीं।
गमक रहा था केतकी का गंध चारोंओर,
झिल्ली-झनकार वही मेरे मन भाई थी॥
करने लगी मैं अनुकरण स्व-नूपुरों का,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी।
'हैं', 'हैं' कह लिपट गये थे यहीं प्राणनाथ,
भाई मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी॥'

—साकेत

गुप्तजी ने 'यशोधरा' में भी वियोगिनी यशोधरा के कहीं-कहीं काफ़ी स्वाभाविक वर्णन किये हैं। पर वे विशेष-रूप से उल्लेखनीय नहीं हैं।

आधुनिक समय में श्रीमती महादेवी वर्मा की मुक्तक रचनाओं में विरह के बहुत ही वेदनापूर्ण गीत मिलते हैं। वे एक स्त्री-हृदय से निकले हैं, इसलिये अधिक स्वाभाविक और सच्चे हैं। चाहे वे परमात्मा के पक्ष में हों या किसी व्यक्ति-

विशेष के, पर उनमें विरह की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना है, इसमें ज़राभर भी शक नहीं। एक स्थान पर वे एक स्त्री के मुख से कहलाती हैं।—

'मेरे जीवन की जागृति, देखो तुम भूल न जाना।
जो वे सपना बन आवें, तुम चिर-निद्रा बन जाना॥'

—यामा

हिन्दी के कुछ सच्चे विरह-वर्णनों का दिग्दर्शन करा लेने के बाद अब मैं आवश्यक समझता हूँ कि कुछ नक़ली विरह-वर्णनों के उदाहरण भी पाठकों के सामने उपस्थित करूँ। ऐसे विरह-वर्णनों की संख्या हिन्दी-साहित्य-प्रदेश में राजा सगर के पुत्रों के समान है। वे इतने अधिक हैं और इतने मनोरंजक हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(२)

हिन्दी के अधिकांश विरह-वर्णन ऐसे हैं जो ज़रूरत-से-ज़्यादा अतिशयोक्ति-पूर्ण हैं। वे मुख्यतः रीति-कालीन कवियों-द्वारा लिखे गये हैं, यद्यपि उनके जन्मदाता सूरदास हैं। ये विरह-वर्णन बड़े ही भयानक हैं। इनमें वर्णित स्त्रियाँ बहुत ही ख़तरनाक हैं। इनके द्वारा मस्तिष्क थोड़ा मनोरंजन तो कर लेता है, पर हृदय स्वाभाविकता की इतनी बेरहमी के साथ हत्या होते देखकर रो देता है। ऐसे चमत्कार-पूर्ण वर्णनों के कुछ उदाहरण देखिये।

—नायिका के विरह-ताप का वर्णन करने में बाज़ी मारने के लिये हिन्दी-कवियों में ख़ूब घुड़दौड़ हुई है। जायसी ने लिखा है कि नागमती की विरह-वेदना में इतनी ज्वाला थी कि वह जिस पक्षी के समीप जाकर अपनी वेदना सुनाती थी, वह पक्षी जल

जाता था और जिस पेड़ पर वह पक्षी रहता था, वह भी झुलस जाता था।—

'जेहि पंखी के नियर ह्वै,
कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि,
तरिवर होंहि निपात॥'

—पद्मावत

बिहारी की एक नायिका विरह की अग्नि में जल रही थी। एक सखी ने दया करके उसके शरीर को ठंडा करने के लिये उसके ऊपर शीशी में से गुलाब-जल छोड़ा। शरीर में इतनी गरमी थी कि उसकी वजह से गुलाब-जल बीच ही में भाप बन गया और उसका एक छींटा भी वियोगिनी के ऊपर नहीं पड़ा।—

'औंधाई सीसी सुलखि, बिरह-बरति बिललाति।
बिच ही सूख गुलाब गौ, छींटी छुई न गात॥'

—बिहारी

बिहारी की एक और नायिका है। वह भी वियोगाग्नि में इतनी जल रही है कि लोग स्वयं जल जाने के डर से उसके पास जाते ही नहीं। जाड़े की रात में बहुत साहस करने पर सखियाँ अपने शरीर भर में गीले कपड़े लपेटकर तब उसके पास जाती हैं।—

'आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
साहसु ककै सनेह-बस, सखी सबै ढिग जाति॥'

—बिहारी

बिहारी की एक तीसरी नायिका है। वह विरह से इतनी जल रही है कि उसके मुख से साँस नहीं, लू निकलती है।

उसका पति परदेश से लौटकर जब अपने गाँव में आया तो उसने लोगों से यह सुना कि उस गाँव में तो माघ-मास की रात्रि में भी लू चलती है। उसने तुरन्त मन में समझ लिया कि अभी उसकी वियोगिनी स्त्री जी रही है, क्योंकि उसीकी श्वास से यह लू निकलती होगी।—

'सुनत पथिक मुँह माह निसि,
चलति लुवैं उहि गाम।
बिनु बूझे, बिन ही कहे,
जियत बिचारी बाम॥'

—बिहारी

मतिराम की एक नायिका के विरह-ताप का तमाशा देखिये। वह विरहाग्नि से झुलसी जारही थी। सखियों ने कमलिनी के पत्तों में ख़ूब चन्दन लगाकर उनसे उसके शरीर को शीतल करना चाहा। वे चन्दन-चर्चित पत्ते उसके तप्त शरीर को छूते ही पापड़ होगये।—

'जागत ओज मनोज के, परसि तिया के गात।
पापर होत पुरैनि के, चन्दन-पंकिल पात॥'

—मतिराम-सतसई

एक और कवि के घर में एक मरीज़ नायिका है। वह कुछ बोलती ही नहीं। उसके हृदय में वियोग की इतनी ज्वाला धधक रही है कि वह डरती है कि बोलते ही साँस की गरम हवा से जीभ जल जायगी और मैं हमेशा के लिये गूँगी हो जाऊँगी।—

'आखर गरम बरै लागै स्वास-बायु कहूँ,
जीभ जरि जाय फेरि बोलिबे ते रहिये।'

—रघुनाथ

'आलम' की विरह-विदग्धा नायिका तो बड़े काम की है। शाम को चूल्हा जलाने के लिये आग की ज़रूरत पड़ती है तो वे उस वियोगिनी के जलते हुये शरीर में से कुछ अंगारे झाड़ लेते हैं। उसीतरह शाम को दीपक जलाने के लिये उनको दिया-सलाई की भी ज़रूरत नहीं पड़ती। वे तो वियोगिनी की जलती हुई छाती में बत्ती को छुवा देते हैं, बस दीपक जल उठता है।—

'ऐरी पर-घर कित माँगन को जैहै आजु,
आँगन में चन्दा तैं अँगार चार झारि लै।
साँझ भये भौन सँझबाती क्यों न देत आली,
छाती तें छुवाय दिया-बाती क्यों न बारि लै॥'

—आलम-केलि

पद्माकर की विरहिणी नायिका के शरीर की ज्वाला तो इन सबसे तेज़ है। एक दूती उसको वियोग में जलती हुई देखकर भागकर कृष्ण के पास पहुँची और बोली कि हे कृष्ण! आज बड़ी ख़ैरियत हुई कि मैं उस वियोगिनी के नज़दीक नहीं गई, नहीं तो शायद जलकर ख़ाक होजाती। मैं तो दूर ही से भाग आई, इससे अभी इतनी कम जली हूँ कि किसी तरह दवा करके अपने प्राण बचा सकूँगी। अभी तो वह बेहोश पड़ी है; इससे ज़्यादा ख़तरा नहीं है। होश में आने पर कहीं वह एक भी 'आह' भरेगी तो उसकी गरमी से न-जाने क्या-से-क्या हो जावेगा। संसार के सर-सरिता तो पल-मात्र में सूख जावेंगे। उस

वियोगिनी के शरीर की गरमी का हाल मैं तुमको कैसे बताऊँ; मैं तो उसको दूर ही से देखकर भाग आई थी, फिर भी मेरे शरीर में इतनी गरमी समा गई है कि तुम मेरे ही शरीर को छुओ तो तुम्हें बुख़ार चढ़ आयेगा।—

'दूर ही तें देखत बिथा मैं वा बियोगिनि की,
आई भले भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी।
कहै पदमाकर सुनो हो घनस्याम, जाहि
चेतत कहूँ जो एक आहि कढ़ि आवैगी॥
सर-सरितान को न सूखत लगैगो देर,
एती कछू जुलमिनि ज्वाला बढ़ि आवैगी।
ताके तन-ताप की कहौं मैं कहाँ बात,
मेरे गात ही छुवौ तौ तुम्हैं ताप चढ़ि आवैगी॥'
—जगद्विनोद

ग्वाल कवि की विरहिणी नायिका भी किसी से कम नहीं है। वह हाथ में चावल लेकर आँगन में खड़ी हुई थी कि क्षण-मात्र में उसके हाथ की गरमी से वह चावल हाथ ही में पककर भात हो गया।—

'ताँदुर ले आई तिया आँगन में ठाढ़ी भई,
कर के पसारबे में भात हाथ में भयो!'
—ग्वाल

इसीप्रकार गंग की एक वियोग से जलती हुई नायिका है, जिसकी एक आह से सारा मानसरोवर ही सूख गया था। एक और कवि की नायिका वियोग-ज्वर से पीड़ित थी। वैद्यजी उसे देखने आये। नाड़ी देखने के लिये जैसे ही उन्होंने उसका हाथ पकड़ा कि उनके हाथ में फफोले पड़ गये।—

'विरह-आगि तन में लगी, जरन लगे सब गात।
नारी छूवत वैद के, परे फफोले हाथ॥'
—अज्ञात

इसीतरह के विरह-ताप के सैकड़ों वर्णन हैं। सबका यहाँ पर संकलन करना कठिन है। अब हिन्दी-कवियों की दृष्टि में विरह के कारण नायिकायें कितनी कृशगात हो जाती हैं, इसके कुछ उदाहरण लीजिये।

सूरदास की 'कर-कंकन तें भुज टाँड़ भई' की कल्पना कोई बहुत ऊँची कल्पना नहीं है। तुलसी इनसे भी दो-हाथ ऊँचे उठ गये हैं। सीता इतनी दुबली हो गई हैं कि उनकी सबसे छोटी उँगली में फ़िट होनेवाली अँगूठी उनकी कलाइयों में फ़िट होने लगी है।—

'अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ॥'
—बरवै-रामायण

देव की विरहणी इतनी दुबली होगई है कि उसने कौवे को उड़ाने के लिये हाथ उठाया तो उसके हाथ में से चूड़ियाँ निकल-कर कौवे के गले में जाकर लटकने लगीं।—

'देवजू आजु मिलाप की औधि,
सो बीतत देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ायबो को, उड़ि
काग-गरे परीं चारिक चूरी॥'
—देव

बिहारी की विरहिणी इतनी चीण होगई है कि वह दिखाई ही नहीं पड़ती। मृत्यु भी उसे यमलोक लेजाने के लिये आई

मुश्किल हो जायगा। उसके आँसुओं का प्रवाह बढ़ता जारहा है। जल्दी न चलोगे तो फिर नाव (घड़े की नाव) पर बैठकर तब उसके समीप पहुँच पाओगे।—

'अब न चलौ तौ फिरि चलि न सकौगे उन,
अँसुवन कान्ह कहूँ ठाहर न पाइहौ।
आइ घर राखौ बैठि घरनि को घेरि ना तो,
घरिक मैं हरि, घरनाई चढ़ि जाइहौ॥'
—आलमकेलि

हिन्दी के अधिकांश विरह-वर्णन इसीतरह के हैं। उनमें बड़ी कृत्रिमता है। अतिशयोक्ति का तो कीचक की तरह वध किया गया है। हिन्दी-कवियों के हाथ में पड़कर विरह एक मज़ाक की चीज़ होगई है। केवल थोड़े-से कवि ऐसे हुये हैं, जिन्होंने विरह के सच्चे मर्म को पहचाना है। उनका उल्लेख मैं इसी लेख में ऊपर कर चुका हूँ। उनके विरह-वर्णन वास्तव में साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। बाक़ी, रीति-कालीन कवियों के विरह-वर्णन तो दिल-बहलाव के लिये परियों के क़िस्से-मात्र हैं, और कुछ नहीं।

हिन्दी-कविता में स्त्रियाँ

(१)

स्त्री-जाति और कविता का बड़ा गहरा सम्बन्ध है ! रस कविता की आत्मा है और स्त्रियाँ साक्षात् रस-मूर्त्ति होती हैं। इससे स्त्रियाँ एक प्रकार से साकार कविता होती हैं। कविता का मुख्य प्रयोजन सौन्दर्य की खोज करना और उसको प्रकाशित करना है। वह सौन्दर्य नारी के रूप में एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत रहता है। प्रकृति में सौन्दर्य खोजने चलिये तो वह बहुत बिखरे हुये रूप में मिलेगा। सभी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले तत्त्व एक स्थान पर शायद ही मिलें। एक जगह आँखों को सुखी करनेवाले दृश्य मिलेंगे, तो दूसरी जगह कानों को सुख देनेवाले शब्द मिलेंगे। स्त्री के रूप में सभी इन्द्रियों को एक साथ ही सुख देनेवाले साधन विधाता ने प्रस्तुत किये हैं।

स्त्रियों में इतना आकर्षण होता है कि जड़-से-जड़ जीव भी उनकी ओर आकर्षित होजाते हैं। बड़े-से-बड़े त्यागी ऋषि-मुनि भी उनके सौन्दर्य पर रीझकर अपना सर्वस्व उनके ऊपर लुटा देते हैं। फिर कवियों की तो बात ही क्या है। वे तो स्वभाव से ही रसिक और भावुक होते हैं। उनकी हृदय-रूपी इलमारी में तो स्त्रियाँ शहद की शीशी की तरह हमेशा ही रक्खी रहती हैं।

वे दिन रात कवियों की हृदय-रूपी रेलवे-लाइन पर मालगाड़ी की तरह मन्द-मन्द चलती रहती हैं।

संसार के सभी कवियों ने नारी के सौन्दर्य को दो प्रकार से देखा है। बहुत-से कवि तो उसके रूप-रंग को देखकर ही छट-पटाकर रह गये हैं। बहुत-से अन्य श्रेष्ठ कवियों ने उसके भीतर छिपे हुये आन्तरिक सौन्दर्य की ओर दृष्टिपात किया है। हिन्दी-कवियों ने भी प्रायः ऐसा ही किया है। अधिकांश हिन्दी-कवि तो स्त्रियों के शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही को देखने में लगे रहे, पर बहुतों ने नारी-जीवन के विविध अंगों को सूक्ष्मता के साथ देखा है। भारतीय स्त्री तो गाय की तरह होती है। उसे चाहे साधु के दरवाज़े पर बाँध दीजिये, चाहे कसाई के; वह कुछ न बोलेगी। कविता में भी वह विलासी कवियों के हाथ में पड़कर विलासिता की सामग्री-मात्र होगई है। सुसभ्य कवियों के हाथ में पड़कर वह देवी बन गई है। सन्त-कवियों के हाथ में पड़कर वह एक घृणा और तिरस्कार की वस्तु होगई है।

(२)

हिन्दी-कविता में पहले हम उन कवियों का दृष्टिकोण लेते हैं, जो स्त्रियों का नाम सुनने से भी उसी तरह भड़कते थे, जैसे लाल कपड़े को देखकर बैल भड़कता है। ऐसे कवि स्त्रियों के प्रति विशेष उदार नहीं थे। ये लोग स्त्रियों की छाया से भी घबड़ाते थे। कबीर ने तो यहाँतक लिखा है कि जहाँपर स्त्री का मुर्दा शरीर जलाया गया हो, वहाँ भी न जाना चाहिये, नहीं तो कहीं वहाँ की राख भी उड़कर शरीर में लग जायगी तो पाप लग जायगा।—

'जहाँ जराई सुन्दरी, तू जनि जाय कबीर।
उड़िके भस्म जो लागसी, सूना होय सरीर॥'

—कबीर

कबीर ही ने एक स्थान पर स्त्री को दुश्मन से भी बढ़कर दुश्मन लिखा है।—

'छोटी-मोटी कामिनी, सबही विष की बेल।
बैरी मारै दाँव दै, यह मारै हँसि-खेल॥'

—कबीर

पलटूदास भी स्त्रियों को बहुत ख़तरनाक समझते हुये लिखते हैं कि चाहे वह कितनी भी वृद्धा होगई हो, उसका विश्वास न करना चाहिये क्योंकि वह मौक़ा पाकर किसी भी वक्त़ मन में वासना पैदा कर सकती है।—

'असिउ बरस की बूढ़ि को पलटू ना पतियाय।'

—पलटू

ये सन्त लोग स्त्री को देखना तक पाप समझते थे। ये तो स्त्री को पाँव की जूती बनाकर रखना चाहते थे। इनका मत था कि उसी स्त्री का वरण करना चाहिये जो ख़ूब सेवा कर सके। रूप-रंग न देखना चाहिये, क्योंकि रूप लेकर क्या होगा, क्या पति उसको धोकर पियेगा। ये साधु-महात्मा लोग थे; ये तो उसीको पसन्द करते थे जो लेटने पर पैर दबा दे, जागने पर गरम-गरम हलवा बनाकर खिला दे और जो-कुछ जूठा-मीठा पाजाय, उसीको खाकर दिन-रात मुफ़्त की नौकरी बजाती रहे।—

'ऊँच-नीच कुल सुन्दरी,
सेवा सारी होय।
सोइ सुहागिन कीजिये,
रूप न पीजै धोय।।'

—याद नहीं

सन्तों के मत को हिन्दी-कवियों का मत न मानना चाहिये, क्योंकि सन्तों की कविता से हिन्दी-कविता विशेष प्रभावित नहीं हुई है। सन्त तो सन्त ही थे। वे तो भजन-पूजन में लगे रहते थे। स्त्रियों के कारण उनके मन डिग जाते थे, इसलिये उन्होंने स्त्रियों के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिये स्त्रियों की निन्दा की है। उनका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं था। कविता और कला का विकास करना भी उनका उद्देश्य नहीं था; इसी-लिये उन्होंने स्त्री-जीवन के विकसित रूप को देखने का कष्ट भी नहीं उठाया है। वे तो स्त्री को माया का अवतार समझते थे। मोह-माया के त्याग के लिये ही उन्होंने स्त्रियों के ख़िलाफ़ विद्रोह का झंडा खड़ा किया था।

स्त्री-जाति के विरोधी कवियों में लोग तुलसीदास का नाम भी बड़े क्रोध के साथ स्मरण करते हैं। हमें तो स्त्रियों का सम्मान करनेवाला इतना बड़ा और कोई कवि नज़र नहीं आया। हम आगे इस बात को प्रमाणित करेंगे। यहाँ पर तो हम दो-तीन ऐसे स्थलों का उल्लेख कर देना चाहते हैं, जहाँ तुलसी ने प्रसङ्ग-वश स्त्रियों के विरुद्ध कुछ लिखा है। पंचवटी के प्रसङ्ग में शूर्पणखा के विषय में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है।—

'पंचबटी सो गइ इक बारा।
देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी!
पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी।
जिमि रबि-मनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥'

—रामचरितमानस

इसका भावार्थ यह हुआ कि स्त्री सुन्दर पुरुष को—चाहे वह भाई हो, या पिता हो, या पुत्र हो—देखते ही उसपर मुग्ध हो जाती है और अपने मन के वेग को सम्हाल नहीं सकती। मैं नहीं समझता कि ऐसा लिखकर तुलसी ने स्त्री-जाति का कौन-सा अपमान किया है। ढूँढ़ने चलिये तो इसके दो-चार उदाहरण तो ज़रूर ही मिल जायँगे। जिस प्रकार संसार में इसतरह के इने गिने उदाहरण मिलेंगे, उसीतरह रामचरित-मानस-जैसे विशाल ग्रंथ में भी इस तरह का शायद यही एक उदाहरण है। यदि समाज में इस प्रकार की नीच मनोवृत्ति रखनेवाली स्त्रियाँ मिल सकती हैं, तो साहित्य में उनका उल्लेख होने पर किसी को आपत्ति न होनी चाहिये। तुलसी ने स्थान-स्थान पर पुरुषों की कमज़ोरियों को भी तो खोल कर रख दिया है। उनको ख़ास-तौर पर स्त्रियों ही से कोई चिढ़ थोड़े ही थी।

एक स्थान पर प्रसङ्ग-वश तुलसी ने स्त्रियों के विषय में एक रिमार्क और कस दिया है, जिसको लेकर बहुत से लोग दाँत पीसते रहते हैं।—

'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।
ये सब तारन के अधिकारी॥'

—रामचरितमानस

स्त्रियाँ तो इन पंक्तियों से इतनी नाराज़ रहती हैं कि जान पड़ता है, जैसे तुलसी ने स्वयं उन्हें लात-घूँसे लगाये हैं। तुलसी के इस कथन के विषय में सबसे पहले तो मुझे यह कहना है कि यह बात एक अवसर-विशेष पर कही गई है, इसलिये सभी अवसरों के लिये लागू नहीं होसकती। क्रोधावेश में मनुष्य के मुख से न-जाने कितनी कठोर बातें निकल जाती हैं। उन बातों के आधार पर उस मनुष्य के विषय में कोई राय नहीं क़ायम की जाती। इस कथन के विषय में मुझे दूसरी बात जो कहनी है, वह यह है कि ताड़ना देना कई अर्थों में व्यवहृत् होता है। उसका यही साहित्यिक अर्थ नहीं होता कि किसी को ख़ूब पीटा जाय। ज़बान से भी ताड़-झाड़ दिखाई जाती है। धक्का देने के अर्थ में भी यह शब्द कविता में कई स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। तुलसी ने भी नारी-पक्ष में इसका अर्थ पीटने से नहीं लिया है। जिसतरह ढोल पर हलकी चोटें करने से ही वह बोलती है, उसीतरह नारी के गालों पर भी प्रेम की चपतें लगाने से ही वह प्रसन्न होती है और वश में हो जाती है। यदि ताड़न का अर्थ पीटना माना गया होता तो कवि ढोल को इसमें स्थान न देता। पीटने से तो ढोल फूट जायगी। वह तो बजाई जाती है। ढोल पीटने से नहीं बजती, बजाने से बजती है। मेरे ऊपर के तर्क न जँचें तो इन पंक्तियों का यह अर्थ मानने में तो किसी को आपत्ति न होनी चाहिये कि यह उन नीच स्त्रियों के लिये लिखा गया है, जो सद्गुणी स्त्रियों के समक्ष वैसी ही

लगती हैं जैसे अच्छे बाजों के आगे ढोल, सुसभ्य आदमियों के आगे गँवार, कुलीन लोगों के आगे कोई नीच व्यक्ति और प्राणियों के आगे पशु। अर्थात्, यह बुरी स्त्रियों के लिये लिखा गया है कि वे सिर्फ़ मारने-पीटने या डराने-धमकाने से ही ठीक रह सकती हैं। तुलसी ने ऐसा लिखकर कोई अनर्थ तो किया नहीं है। दुष्टों को तो दंड मिलना ही चाहिये, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष।

तुलसीदास ने एक स्थान पर स्त्रियों के सम्बन्ध में एक और कठोर सत्य कह दिया है। उन्होंने रावण के मुख से कहलाया है।—

'नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस, अनृत, चपलता, माया।
भय, अबिबेक, असौच, अदाया॥'

—रामचरितमानस

इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह देखनी है कि यह स्त्रियों के विषय में तुलसी की सम्मति नहीं है। रावण प्राचीन नीति-कारों का हवाला देकर ऐसा कह रहा है। तुलसीदास का उद्देश्य तो बातचीत का स्वाभाविक ढंग दिखाना है। बातचीत में तो रावण राम को कटु-से-कटु वाक्य कह डालता था। क्या इसका यह अर्थ लिया जायगा कि राम के विषय में वह तुलसीदास की सम्मति थी? यदि ऊपरवाली सम्मति तुलसीदास ही की मान ली जाय तब भी इससे यह नहीं आभासित होता कि तुलसीदास किसी प्रकार से स्त्रियों को नीचा दिखाना चाहते थे। गुण-अवगुण तो सभी में होते हैं। यह कैसे माना जा सकता है कि

स्त्रियाँ अवगुण-रहित होती हैं। यदि कोई उनके अवगुणों की ओर निर्देश करता है तो, इसका यह मतलब नहीं कि उसका उद्देश्य उनको बदनाम करना है। वह तो एक सत्य बात को सामने रख रहा है। अधिकांश स्त्रियों में सचमुच वे आठों बातें होती हैं जिनका नामोल्लेख तुलसीदास ने ऊपर किया है। इसलिये तुलसी के माथे यह कलंक नहीं मढ़ा जा सकता कि उन्होंने जानबूझकर स्त्रियों का पछेड़ किया है। हाँ, वे साधु-स्वभाव के व्यक्ति थे, इसलिये सांसारिकता से विशेष प्रयोजन नहीं रखते थे। वे भक्त थे, इसलिये स्वभावतः स्त्रियों से घबड़ाते थे, पर कबीर आदि की तरह उनको फाड़ खाने के लिये नहीं दौड़ते थे।

(२)

स्त्रियों के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण हिन्दी के रसिक कवियों का है। ये लोग स्त्रियों को भोग-विलास की सामग्री-मात्र समझते थे। इनकी दृष्टि में तो वे मनोविनोद के लिये एक खिलौना थीं, और कुछ नहीं। इस श्रेणी के कवियों ने स्त्रियों को व्यापक-दृष्टि से नहीं देखा है। ये लोग तो उनके वाह्य-सौन्दर्य की उपासना करनेवाले थे। इन लोगों ने स्त्रियों को काफ़ी अपमानजनक परिस्थिति में रख छोड़ा था। वे ताश-शतरंज से अधिक मूल्यवान नहीं थीं।

स्त्रियों का यह रूप मुख्यतः रीति-कालीन कवियों की रचनाओं में प्रकट हुआ है। इन लोगों ने विलासिता के रंग में डूबकर अतिशयोक्तियों से भरे हुये स्त्रियों के नखशिख-वर्णन और नायिका-भेद लिखे हैं। ऐसी स्त्रियाँ सर्व-सुलभ न होकर अनुभव से भी परे होगई हैं। वे स्वयं तो आवश्यकता से अधिक

कृशाङ्गिनी होने के कारण ख़तरनाक हुई हैं, उनके विरहोच्छ्वास और भी ख़तरनाक हैं। हमेशा ही भय लगा रहता है कि कहीं उनकी ज्वाला से विधाता की यह सृष्टि ही जलकर राख न होजाय। ऐसी विरहिणी स्त्रियों के विषय में हम एक अलग लेख में बहुत-कुछ लिख चुके हैं। अब साधारण स्थिति में इन स्त्रियों की क्या दशा रहती है, यह देखना है।

ये स्त्रियाँ इतनी नाज़ुक हैं कि बालों के बोझ से भी इनकी कमर लचक जाती है। ज़मीन पर तो ये पैर ही नहीं रखतीं; फूलों के बिछौनों पर पैर रखकर चलती हैं। शरीर में ये अंग-राग और कुंकुम का लेप तक नहीं लगातीं, क्योंकि वह उन्हें भार-स्वरूप जान पड़ता है। खिड़की से ज़रा-सी भी धूप आजाती है तो वे कुम्हिला जाती हैं। बाहर तो वे निकल ही नहीं सकतीं, क्योंकि उनकी कमर इतनी नाज़ुक होती है कि वह पंखे की हवा से भी लचक जाती है। बाहर की हवा से उसके टूटने का डर रहता है।—

'चालिहै क्यों चन्दमुखी कुचन के भार भये,
    कचन के भार ही लचकि लंक जाति है।'
—केशव

× × ×

'चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई जहाँ,
    फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि में,
    करत न अंगराग कुंकुम को पंक है॥
कहै मतिराम देखि बातायन बीच आयो,
    आतप मलीन होत बदन मयंक है।

कैसे वह बाल लाल बाहेर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकति लंक है ॥'

—मतिराम

अब कल्पना कीजिये कि बिजली के पंखे के आगे ऐसी नायिकाओं की क्या दशा होती ! शायद रोज़ सैकड़ों परियों की कमरें टूटती रहतीं और गवर्नमेन्ट को पंखे का प्रचार क़ानूनन बन्द कर देना पड़ता ।

ये स्त्रियाँ इतनी सुकुमारी हैं कि इनके लिये अपनी ही पलकों के बोझ से आँखें खोलना दुशवार हो गया है । उनका शरीर फोड़े की तरह है, उसको ज़रा-भर भी छूने से उनको बेहद तकलीफ़ होती है । उनके लिये मकड़ी के जाले की साड़ी बुनी जाती है, उससे भी उनके शरीर में जगह-जगह खरोंच लग जाती है । पलँग पर तो वे लेट ही नहीं सकतीं, क्योंकि डर रहता है कि इतनी कठोर चीज़ पर लेटने से बदन में घाव हो जायँगे । इसलिये वे गुलाब की मुलायम-मुलायम पंखड़ियों पर लेटाई जाती हैं, फिर भी उनके शरीर में जगह-जगह छाले पड़ जाते हैं । कमल और गुलाब के दल एवं मख़मल के बिछौने भी उनके पैरों में काँटे की तरह चुभते हैं । किसी के देखने-मात्र से वे कुम्हिला जाती हैं और कमल-दलों को देखकर भी उनका शरीर कठोरता का अनुभव करके दलकने लगता ।—

"'द्विजदेव' तैसियै बिचित्र बरुनी के भार,
आधे-आधे दृगन परी हैं अधपलकैं ।'

— द्विजदेव

'मकरी क तार ताहि कर चीरू।
सो पहिरे छिरि जाइ सरीरू ॥'

—पद्मावत

'मैं बरजी कै बार तूँ इत कित लेति करौट।
पँखुरी लगै गुलाब की परिहै गात खरौंट ॥'

—बिहारी-सतसई

'कोमल कमल के गुलाबन के दल के सु
जात गड़ि पायँन बिछौना मखमल के।'

—जगद्विनोद

'दीठि के परे ते गात-मंजुता मलिन होत,
देखे अंग दलकहिं दल सतदल के।'

—रसकलस

ये बाहर भी नहीं निकल सकतीं, क्योंकि बिना इत्र वग़ैरह लगाये ही इनके अंगों से इतनी सुवास निकलती है कि भौंरे चारोंओर से आकर घेर लेते हैं। भौंरे तो कभी उनको चम्पे की कली समझकर छोड़ भी देते हैं, पर चकोर उनके मुख को चन्द्रमा समझकर घेरे ही रहते हैं; मोर उनकी लटों को साँप समझकर उनको नोचने लगते हैं; राजहंस उनके उरोजों पर बैठकर मोतियों के हार तोड़ने लगते हैं; चोर रात में उनके शरीर को सोने की सिल्ली समझकर चुराने के लिये दाँव-पेंच लगाता है। उनको रात में टार्च या लालटेन की ज़रूरत ही नहीं पड़ती, क्योंकि उनके मुख-चन्द्र से यों ही काफ़ी प्रकाश फैलता रहता है।—

'नाहक सुबास लागे ह्वैहै कैसी केशव,
सुभावती की बास भौंर-भीर फारे खाति है।'

—केशव

'आगे-आगे आवति अँध्यारी-सी भँवर-भीर,
पाछे-पाछे फैलति उज्यारी मुखचंद की।'

—मतिराम

'चामीकर चोर जान्यो, चम्पलता भौंर जान्यो,
चन्द्रमा चकोर जान्यो, मोर जान्यो दामिनी।'

—अज्ञात

'दाख-कैसो झौंरा झलकति जोति जोबन की,
चाटि जाते भौंरा जो न होती रंग चम्पा की।'

—अज्ञात

'आनन-प्रभा तें तन-छाँह हू छिपाये जात,
भौंरन की भीर संग लाये जात सजनी।'

—दास

आजकल तो भौंरे वगैरह कुछ नहीं दिखाई पड़ते; हाँ, मुख-मंडल के आसपास मसे मँडराते हुये ज़रूर नज़र आते हैं।

इन स्त्रियों के शरीर का रंग भी ख़ूब निखरा हुआ है। एक स्त्री तो जब चाँदनी रात में बाहर निकलती है तो वह चाँदनी में एक-दम से खोजाती है, क्योंकि वह स्वयं चाँदनी की तरह है। दूसरी स्त्री का यह हाल है कि उसके शरीर में गुलाब की पंखड़ियाँ लग जाती हैं तो मालूम नहीं पड़तीं, क्योंकि शरीर का रंग, उसकी सुकुमारता और गंध सब गुलाब-जैसे हैं। तीसरी स्त्री बिल्कुल सोने के कुन्दे की तरह है। उसने शरीर में केसर लगा

रक्खी है। उसीकी महँक से विदित होता है कि वह जीवित प्राणी है, क्योंकि सोने का कुन्दा होता तो उसमें से गंध न आती। चौथी स्त्री की ग्रीवा इतनी स्वच्छ है कि वह पान खाती है तो पीक उसके गले में से अन्दर जाती हुई दिखाई पड़ती है और उस स्थान पर निशान भी बन जाता है।—

'जोन्ह-सी जोन्है गई मिलि यों,
मिलि जात ज्यों दूध में दूध की धार है।'

—अज्ञात

'बरन बास सुकुमारता, सबही रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गात न जानी जाय॥'

—बिहारी

'कंचन तन धन बरन बर रह्यो रंगु मिलि रंग।
जानी जात सुबास ही, केसरि लाई अंग॥'

—बिहारी

'पुनि तेहि ठाँव परी तिन रेखा।
घूँट जो पीक लीक सब देखा॥'

—जायसी

ये स्त्रियाँ 'कटाक्ष-पात-निपुणा' भी हैं। इनके कटाक्षों में इतनी तीक्ष्णता है कि ये अपने हाथ से अपनी ही आँखों में काजल लगाने से डरती हैं कि कहीं कटाक्षों से उँगलियाँ न कट जायँ। चित्रकार इन स्त्रियों के चित्र भी नहीं बना सकता, क्योंकि जैसे ही वह चित्र बनाने के लिये कलम उठाता है तैसे ही कटाक्षों से उसकी उँगली कटने लगती है। इनके एक-एक कटाक्ष से एकबार में दस-दस लाख आदमी जूझ जाते हैं। आजकल ऐसी नायि-

कायें होतीं तो बड़ी-बड़ी फ़ौजों को रखने की ज़रूरत ही न पड़ती।—

'काजर दै री न ऐरी सुहागिनी,
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन।'

—मुबारक

'कलम छुवत कर आँगुरी कटी कटाछन जाइ।'

—रसनिधि

'नाथ हा हाथ सरोज-से मेरे,
करेरे कटाच्छ कहूँ कटि जाइ न।'

—देव

'एक कटाछ लाख दस जूझा।'

—जायसी

ये स्त्रियाँ ऐसी लगती हैं कि जान पड़ता है मानों 'चाँद चीरि काढ़ी हैं' या चाँदनी-रूपी खेत में से आलू की तरह खोदकर निकाली गई हैं। इनमें से किसी की कमर अंधे की आँख की ज्योति की तरह क्षीण है, किसी की चार अंक (४) के मध्य भाग की तरह पतली है; किसी की बरें की कमर से भी पतली है; किसी की जीभ में वाणी की तरह है तो सही पर दिखाई नहीं पड़ती; किसी की पर-ब्रह्म परमेश्वर की तरह सूक्ष्म और अदृश्य है। केशवदास की नायिका के शरीर में कमर उसी-तरह है जैसे साधु में मिथ्याभाषण, स्यार में दृढ़ता, ग़रीब के घर में धन, सूम के हाथ से दान, निष्कपट आदमी में कपट आदि। अर्थात्, वह है ही नहीं।

'चारि को सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं।'

—भूषण

'बसा-लङ्क बरनी जग झीनी।
तेहिं ते अधिक लङ्क वह खीनी ॥'

—जायसी

'सुनियत कटि सूछम निपट,
निकट न देखत नैन।
देह भये यों जानिये,
ज्यों रसना में बैन ॥'

—रसलीन

'सूछम कटि परब्रह्म-सी अलख लखी नहिं जाइ।'

— अज्ञात

एक स्त्री की कमर इतनी सूक्ष्म है, जितनी किसी अँगरेज़ के दिल में भारत की भलाई की भावना रहती है।—

'साहब के दिल में, दिमाग़ में, दिखावे में भी,
हिन्द की भलाई के ख़याल-सी कमर हो।'

—रामनरेश त्रिपाठी

इन स्त्रियों की कमर इतनी जल्दी-जल्दी पतली होती जाती है कि इनकी घाँघरी घंटे-घंटे पर ढीली पड़ जाती है।—

'काइ कहौं दुख कौन सों, मौन गहौं किहि भाँति।
घरी-घरी यह घाँघरी, परत ढीलियै जाति ॥'

—पद्माकर

इनकी कमर की एक लचक से सैकड़ों प्रेमियों के कलेजे तराश उठते हैं।—

'कै गई काटि करेजन के,
कतरे-कतरे पतरे करिहाँ की।'

—पद्माकर

हिन्दी के रसिक कवियों की दृष्टि में स्त्रियों की नाक नाक नहीं कामदेव की दो-नली बंदूक है। उनके उरोज उरोज नहीं बल्कि दिल में काम-वासना की बिजली जलाने के लिये बिजली के दो स्विच हैं, या दूध के दो घड़े हैं, अथवा छाती-रूपी सोने की थाली में सोने के दो लड्डू रक्खे हैं; अथवा दो कटोरियाँ औंधाकर रक्खी हुई हैं।—

'काम के जगाइबे को विद्युत्-बटन हैं।'

—अज्ञात

'जब जनमने का नहीं था नाम भी हमने लिया।
दो घड़ा तैयार दूधों का तभी उसने किया॥'

—हरिऔध

'कनक-थार कुच कंचन लाड़ू।'

— जायसी

इन कवियों की नायिकाओं के ओठों में इतना माधुर्य है कि एक कवि उनकी प्रशंसा में कुछ लिखने चला तो उसके हाथ की कलम ही ईख होगई। ईश्वर को धन्यवाद है कि इस ज़माने में ऐसी स्त्रियाँ नहीं हैं, नहीं तो बड़ा नुकसान होता। उस कवि की तो एक पैसे की किलक ही ख़राब हुई होगी, यहाँ तो पन्द्रह-बीस रुपये की फ़ाउन्टेनपेनें पल-मात्र में ईख होजातीं।—

'बधू-अधर की मधुरता बरनत मधु न तुलाय।
लिखत लिखक के हाथ की किलक ऊख ह्वै जाय॥'

—रसनिधि

यह हिन्दी के रसिक और विलासी कवियों-द्वारा तैयार किया हुआ स्त्री का रूप है। इन लोगों ने स्त्रियों की शारीरिक

शोभा को ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। पैर के नाख़ून से लेकर सिर की चोटी तक स्त्री के शरीर का एक रोम भी नहीं छूटने पाया है, जिसपर कवियों ने अपनी कल्पना का रंग नहीं चढ़ाया है। मुख पर ज़रा-सा तिल देखा तो उसपर भी लिख दिया कि मालूम होता है, जैसे चन्द्र बिछाकर शालिग्राम बैठे हैं या रूप के ख़ज़ाने पर कोई हबशी पहरा दे रहा है।

इन कवियों ने पद्मिनी-संखिनी आदि स्त्रियों के विवेचन में बड़ी बुद्धि ख़र्च की है। स्त्री की चाल-ढाल, उसके व्यवहार, उसकी अवस्था और उसकी प्रेम-लीलाओं के अनुसार उनके मुग्धा-प्रौढ़ा आदि बहुत-से भेद किये गये हैं। स्वकीया-परकीया पर लोगों ने ख़ूब अक़्ल के घोड़े दौड़ाये हैं। रीतिकालीन कवि तो दिन-रात सामने कामिनी को बैठाये हुये उसपर रिसर्च करते रहते थे। किसी स्त्री को ज़रा-भर भी निष्ठुर होते देखा तो फ़ौरन उन्होंने कल्पना भिड़ाई कि इसका हृदय इतना कठोर है, इसीलिये उसके ऊपर उगनेवाले उसके उरोज भी कठोर होगये हैं।—

'करत लाल मनुहारि पै, तू न लखत यहि ओर।
ऐसो उर जु कठोर तौ, उचितहि उरज कठोर॥'

—मतिराम

देव ने तो सिर्फ़ स्त्रियों को देखने के लिये सारे भारतवर्ष की यात्रा की थी। उन्होंने जाति-भेद से नाइन, धोबिन, कलवारिन, अहीरिन और सोनारिन आदि नायिकाओं का बहुत स्वाभाविक वर्णन किया है। इसीतरह देश-भेद से भी उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रांतों की नायिकाओं का बड़ा मनोहर वर्णन किया है।

काश्मीर की स्त्रियों का पीताभ वर्ण देखकर उन्होंने लिखा है कि जान पड़ता है, मानों वह केसर के रंग में डुबोकर निकाल ली गई है। गुजरात की नायिकाओं के विषय में देव ने लिखा है कि वे बड़ी सुघर रूपवाली होती हैं, मन्द-मन्द चलती हैं, चन्द्रमा और कमल के समान मुखवाली होती हैं; इन्दिरा भी उनकी अगवानी करने के लिये आती है। कलिङ्ग-देश की नायिका के लिये लिखा है कि वह आलिङ्गन कराने में पड़ी प्रवीण होती है। इसी तरह बङ्गाल की स्त्री हृदय को रिझाना ख़ूब जानती है। वह दुबली-पतली तो होती ही है; प्रियतम की कमर पकड़कर दिन-रात लटकती हुई ऐसी लगती है मानों कोई तलवार लटक रही हो।—

'देव दुति लहरात छूटे छहरात केस,
बोरी जिमि केसरि किसोरी कसमीर की।'
—देव

'इन्दिरा अगौनी इन्दु इन्दीवर औनी,
महा सुन्दर सलौनी गजगौनी गुजरात की।'
— देव

'अंग-अंग उमगि अनंग उपजावति,
अलिङ्गन अघात न कलिङ्ग की कुलङ्गना।'
—देव

'देव रहै हियरे लगि कै,
करवाल किधौं बर बाल बँगालिन।'
—देव

इसप्रकार कवियों की इस श्रेणी ने तो सिर्फ़ स्त्रियों के वाह्य-रूप को देखा है। इस श्रेणी के लोग न तो उन्हें माया मानते थे न देवी। ये तो उन्हें एक काम की पुतली समझते थे। स्त्री के

गुण-अवगुण से इन्हें कोई मतलब नहीं था। ये तो उसका रूप-रंग चाहते थे। रीति-ग्रंथों में प्रायः ऐसी-ही स्त्रियों के और उनके कुकृत्यों एवं थोड़े-से सुकृत्यों के उल्लेख हैं, और कुछ नहीं। इन ग्रंथों में कल्पित स्त्रियों का भीतरी जीवन कितना कुत्सित था, इसपर हम आगे एक स्वतंत्र निबन्ध लिखेंगे।

(४)

बहुत थोड़े-से हिन्दी-कवियों ने स्त्री-जीवन के भीतरी पहलू पर दृष्टि-पात किया है। सूर ने विरह-वर्णन और बाल-लीला के रूप में स्त्री-हृदय की सुकुमारता का दिग्दर्शन कराया है। तुलसी ने कई मर्यादाशील आर्याङ्गनाओं के चित्र उपस्थित करके नारी-जाति के प्रति अपना बड़ा सम्मान प्रकट किया है। पार्वती के रूप में, सीता के रूप में और सुमित्रा के रूप में उन्होंने आदर्श नारी-रत्नों को हमारे सामने रक्खा है। पतिव्रता पार्वती का रूप उनके पार्वती-मंगल और रामचरितमानस में देखने को मिलेगा। सीता के रूप में तो उन्होंने नारी-जीवन का सार ही निचोड़कर रख दिया है। विवाह के पहले भी वे राम की तरफ़ विशेष आकर्षित रहते हुये भी अपने पिता के प्रण पर आघात नहीं करना चाहतीं। राम पर वे एकबार मुग्ध होजाती हैं, पर तुरन्त ही पिता के प्रण का ख़्याल करके क्षुब्ध होजाती हैं। विवाह के बाद वे निरन्तर पति की सेवा में लगी ही रहीं। राम ने वन-गमन के समय उन्हें सुकुमारी कहकर घर पर रहने को कहा तो उन्होंने व्यङ्गात्मक शब्दों में कहा।—

'मैं सुकुमारि, नाथ बन-जोगू।
तुम्हहिं उचित तपु, मो कहँ भोगू॥'

—रामचरितमानस

सुमित्रा के रूप में तो तुलसी ने एक बड़ी ही वीर माता का चित्र अंकित किया है। सुमित्रा राम को इतना चाहती हैं कि राम के लिये अपने पुत्र तक का मोह नहीं करतीं। राम वन को जाने लगे तो सुमित्रा ने लक्ष्मण से कहा कि जब राम वन को जारहे हैं, तो तुम भी उनके साथ जाओ। हे पुत्र! वन में इस बात का सदैव ध्यान रखना कि राम को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे; यही तुमको मेरा उपदेश है।—

'जौ पै सीय राम बन जाहीं।
अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥'

—रामचरितमानस

'जेहि न रामु बन लहहिं कलेसू।
सुत, सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥'

—रामचरितमानस

माता के त्याग के इससे सुन्दर उदाहरण और कहीं न मिलेंगे। दूसरी माँ होती तो यह सिखाती कि देखो अगर राम तुमसे साथ चलने को कहें भी तो कह देना कि तबीयत ख़राब है।—या अगर जाना तो किसी तरह की तकलीफ़ न उठाना। यहाँ तो उलटी ही शिक्षा दी जारही है। माता पुत्र को प्रेम और त्याग की वेदी पर बलिदान होने की शिक्षा देरही है। सुमित्रा का इससे भी जाज्वल्यमान् रूप तुलसी की गीतावली में है। जब सुमित्रा ने सुना कि लक्ष्मण को युद्ध में शक्ति लग गई है और वे स्वामी के लिये प्रबल विपक्षी को रण-निमंत्रण देकर लड़ते हुये युद्धस्थल में घायल होकर गिर पड़े हैं तो उसकी छाती गर्व से तन गई, क्योंकि उसके पुत्र ने अपने स्वामी के लिये

अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी थी और यह प्रमाणित कर दिया था कि उसने किसी वीर माता का दूध पिया है। सुमित्रा ने अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्न को बुलाया और कहा कि तुम तुरन्त लङ्का के लिये प्रस्थान करो; आज लक्ष्मण भी नहीं हैं, इसलिये राम अकेले होंगे; तुम उनकी सहायता के लिये युद्ध-भूमि में जाओ।

मेरी दृष्टि में एक वीर नारी का इससे सुन्दर और कोई उदाहरण देखने में नहीं आया। एक पुत्र मरणासन्न है, दूसरे को माँ मृत्यु के मुख में डाल रही है। उसके सामने तो कर्त्तव्य का प्रश्न है। यह त्याग और शूर-वीरता जिस स्त्री में मिलती है वह स्त्री धन्य है; और जिस साहित्य में ऐसी स्त्री मिलती है, वह साहित्य धन्य है। जो कवि ऐसी स्त्री की कल्पना कर सकता है, उसपर यह दोष नहीं लगाया जासकता कि वह स्त्री-जाति का विरोधी है। कैकेयी आदि के रूप में तुलसी ने केवल नीच प्रकृति की स्त्रियों को देखा है। क्या इस प्रकृति की स्त्रियाँ समाज में नहीं होतीं? फिर यदि तुलसी ने उनका उल्लेख कर दिया तो कौन-सा पाप किया है?

तुलसीदास के बाद बहुत दिनोंतक हिन्दी-कवियों की रचनाओं में नारी-जीवन की अच्छी झाँकी देखने को नहीं मिलती। बीच में तो रीतिकाल के कवियों का राज्य होगया था, जिन्होंने दलबल-सहित स्त्रियों के सतीत्व पर धावा बोल दिया था। इन कवियों की स्त्रियाँ तो महा दुष्टा और काम-सूत्र-पारंगता हैं।

रामचरितमानस के बाद फिर हरिऔध के प्रियप्रवास में स्त्रियों के प्रति कुछ उदारता दिखाई गई है। हरिऔधजी ने राधा के रूप में एक सर्व-गुण-सम्पन्ना विश्वप्रेमिका स्त्री का चरित्र पाठकों

के सामने रक्खा। उसीतरह यशोदा के रूप में उन्होंने एक माता का हृदय खोलकर सामने रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया। गोपियों को लेकर उन्होंने स्त्री के अन्तस्तल में प्रवेश करने का परिश्रम किया और नारी-जीवन की विविध पहेलियों को सुलझाने में भी उन्होंने बड़ी सहृदयता से काम लिया।

हरिऔधजी के बाद तो हिन्दी-साहित्य में बहुत-से कवियों की कृतियों में स्त्री-जीवन के उज्ज्वल चित्र देखने को मिलने लगे। दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, ताराबाई और नीलदेवी आदि पर रतनाकरजी-जैसे शृंगारी कवि ने वीर-रसात्मक कवितायें लिखीं। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'झाँसी की रानी'-शीर्षक कविता में एक वीर महिला का रूप खड़ा किया। बाबू मैथिलीशरणगुप्त ने साकेत और यशोधरा नामक काव्यों में स्त्री-जीवन के बहुत स्पष्ट चित्र खींचे। 'साकेत' में वे उर्मिला को एक सहनशील, और तेजस्विनी विरहिणी बालिका के रूप में लेकर आये। उसके रूप में एक आर्य-स्त्री की सजीव प्रतिमा तैयार की गई है। वह अपने सुख के लिये अपने प्रियतम लक्ष्मण के कर्म-मार्ग में बाधक नहीं होना चाहती। वह तो लक्ष्मण से कहती है कि वन में तुम मुझे तभी स्मरण करना जब रात्रि में स्वामी राम की सेवा से छुट्टी पाना और वे लोग सुख से सोते रहें।

उसके निम्नलिखित कथन में स्त्री-हृदय की कितनी उदारता छिपी हुई है, यह दर्शनीय है।—

'पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो,
मुझे उसीमें है सन्तोष।'

—साकेत

गुप्तजी आगे चलकर 'यशोधरा' के रूप में नारी-जीवन का एक जगमगाता हुआ चित्र लेकर सामने आये हैं। यशोधरा अपने सुख को संसार के समस्त प्राणियों के सुख पर न्योछावर कर देती है और कहती है।—

'मेरे दुख में भरा विश्व-सुख,
क्यों न भरूँ मैं फिर हामी।
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं,
संघं शरणं, गच्छाऽमि ॥'

—यशोधरा

गुप्तजी हिन्दी के पहले कवि हैं, जिन्होंने स्त्रियों के जीवन के दुःख को फ़ील किया है। साकेत में उन्होंने तिरस्कृता कैकेयी के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की और उसको उसकी ग़लती का बोध कराके फिर से उच्चासन प्रदान किया। यशोधरा में आकर उन्होंने साफ़-ही-साफ़ देख लिया कि स्त्री-जाति तो हमेशा ही से करुणा की पात्री होती आरही है। उन्होंने यशोधरा के प्रारम्भ ही में लिखा है।—

'अबला-जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥'

—यशोधरा

गुप्तजी ने ठीक-ठीक रास्ते की कल्पना तो कर ली, पर वे उसको खोज नहीं सके। उसको खोज निकालने का श्रेय ठाकुर गोपालशरणसिंह को है। ठाकुर साहब ने 'मानवी' के रूप में स्त्रियों के जीवन का एक दुःखमय इतिहास ही लिख डाला। वे 'मानवी' के देश में पधारे तो उन्हें युग-युग के अगणित क्लेशों

की कथायें सुनने को मिलीं। 'मानवी' में स्त्रियों की पीड़ितावस्था देखकर कवि मनुष्य होगया है। इसीलिये इस ग्रंथ में हमें मनुष्य की सहानुभूति मनुष्य के साथ देखने को मिलती है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह ने स्त्री-जाति की मूकवेदना को समझा है। उन्होंने नारी-जीवन के दुःखी अंग की ओर दृष्टिपात किया है। उन्होंने इस बात का अनुभव किया है कि जो स्त्रियाँ मनुष्य में सुख का विस्तार करती आई हैं, वे स्वयं कितनी दुःखी रही हैं। विश्व को जगाकर अभीतक स्वयं अंधकार में पड़ी रहनेवाली नारी-जाति को सम्बोधित करके कवि ने लिखा है।—

'तेरे प्रेम-स्पर्श से पुलकित,
आँख जगत ने खोली।
पर तो भी रह गई अभीतक,
निद्रित ही तू भोली॥'

—मानवी

इसप्रकार नारी-जीवन की विविध दशाओं या दुर्दशाओं पर दृष्टिपात करके वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—

'साथ ही साथ रहती हैं,
अबलायें और बलायें।'

—मानवी

इन्हीं सब भावनाओं से प्रेरित होकर कवि ने 'मानवी' की रचना की है। 'मानवी' हिन्दी के काव्य-साहित्य में एक क्रान्ति-कारी ग्रंथ है। इसके कवि ने इसमें नारी-हृदय को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा की है। उन्होंने कवियों को एक नवीन

मार्ग की ओर आने का संकेत किया है। अनेक युगों को उन्होंने तौला है और नारी के लिये यही परिणाम निकाला है कि—

'युग-युग के अगणित क्लेशों की,
तू है करुण कहानी।'

—मानवी

सीता-जैसी स्त्री को भी वे दुःख-भोगिनी पाते हैं।—

'छवि अनिन्दिता, विश्व-वन्दिता,
बनिता परम पुनीता।
दुःख-भोगिनी रही सर्वदा,
प्रेम-योगिनी सीता॥'

—मानवी

इसप्रकार शकुन्तला और अनारकली का शोकपूर्ण जीवन भी कवि की दृष्टि में आया है। 'ब्रजबाला', 'देवदासी', 'भिखारिन', 'माँ', 'वाराङ्गना' और 'अंधी' के दुःखों को भी कवि ने सुना और सुनाया है।

'बाल-विधवा' का उन्होंने जो चित्र खींचा है, वह तो अभूतपूर्व है।—

'जब प्रेम-मिलन की चाह हुई,
तब चिर-वियोग की व्यथा हुई।
ज्योंही उसका आरम्भ हुआ,
त्योंही समाप्त वह कथा हुई॥'

—मानवी

दो पंक्तियों में कवि ने जो बात कह दी है, वह एक बड़े-से-बड़े उपन्यास में भी नहीं कही जा सकती। 'अनमेल विवाह' की

ओर भी कवि ने ध्यान दिया है। हर्ष में उन्हें विषाद की छाया दिखाई पड़ी है। इसीलिये वे कहते हैं।—

> 'उत्सव की मुदमयी निशा में,
> किसे भला है ध्यान।
> जग की कोमल मानवता का,
> होता है बलिदान॥'
>
> —मानवी

इन पंक्तियों में प्राण है और ये किसी भी भावुक के हृदय पर चोट पहुँचा सकती हैं। इनमें एक समाज-सुधारक के व्याख्यानों की नीरसता नहीं है, बल्कि एक विश्व-प्रेमी कवि की कविता है। नाज़ुक-से-नाज़ुक विषय पर काफ़ी लिखने पर भी कवि ने कविता में अश्लीलता नहीं आने दी है; बहुत संयम से काम लिया है। 'वारांगना' और 'देवदासी' के बीच में पड़कर भी कवि विचलित नहीं हुआ है। यह कवि की एक बहुत बड़ी विजय है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह कवि ने नारी-जाति की बड़ी साहित्यिक सेवा की है। मैंने उनकी मानवी की विशेष-रूप से चर्चा इसलिये कर दी है कि यह अपने विषय का एक क्रांतिकारी काव्य-ग्रन्थ है। इसके द्वारा ठाकुर गोपालशरणसिंह ने हिन्दी-साहित्य में एक नई दुनिया बसा दी है और एक बड़े अभाव की पूर्ति कर दी है। यह अपने विषय का पहला ग्रंथ है और हिन्दी की एक उल्लेखनीय कृति है।

इधर पंडित सुमित्रानन्दन पंत ने भी अपनी ज़नाना बोली में स्त्रियों के सम्बन्ध में उच्च विचार रखने का उपदेश दिया है।

खेद है कि हम इनके 'योनि-मात्र रह गई मानवी'-जैसे विचारों का स्वागत करने को तैयार नहीं हैं। हम साहित्य में नग्नता नहीं चाहते। इधर कई कवियों ने स्त्रियों के सम्बन्ध में बड़े पवित्र और ऊँचे विचार प्रकट किये हैं। वास्तव में, यह नारी-जागरण का युग है। देश में, समाज में और साहित्य में सर्वत्र स्त्रियों का स्वागत किया जारहा है। आगे आनेवाले दिनों में जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्हींका राज्य होगा। अब सर्वत्र पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जायगा। हँसनेवाले रोने की तैयारी कर रहे हैं और रोनेवाले हँसने की तैयारी कर रहे हैं। इस भू-भाग का सूर्य अब उस भू-भाग की ओर उदय होने जारहा है। जगनेवाले सोने की तैयारी कर रहे हैं और सोनेवाले निद्रा से उठने की तैयारी कर रहे हैं। पुरुष स्त्री बनने जारहे हैं और स्त्रियाँ पुरुष बनने जारही हैं। अब आनेवाले साहित्य, समाज और देश में स्त्रियाँ नतमस्तक होकर नहीं रहेंगी। यह उनके उत्थान का युग है।

हिन्दी-कविता में विलासिता

मुग़लों से त्रस्त होकर लोग युद्ध-स्थल से भागकर रंगमहलों में रहने लगे थे। मुग़ल-कालीन भारतवर्ष बहुत धन-सम्पन्न था, क्योंकि मुग़ल-शासक अपने को बाहरी नहीं बल्कि इसी देश का निवासी समझकर शासन करते थे। इसलिये धन विदेश न जाकर यहीं रहता था और दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता था। इन कारणों से लोगों को विलासिता-पूर्ण जीवन व्यतीत करने के सभी साधन प्राप्त थे। तलवार को छोड़कर कंचन और कामिनी की उपासना होने लगी थी। स्त्रियों की स्वाधीनता मिट गई थी। वे पुरुषों की काम-वासना की पूर्त्ति करने की मशीन-मात्र होगई थीं। कहावत है कि ठोकर लगी पहाड़ की तोड़ै घर की सिल। यह बात हमारे यहाँ सचमुच चरितार्थ होगई। उधर मुग़लों से जब लोगों की मर्दानगी नहीं चली तो वे अपने आँगनों में आकर अपना जौहर दिखाने लगे। जब वे देश के स्वामी बनकर नहीं रहने पाये तो, उन्होंने सोचा कि लाखों स्त्रियों को बन्दिनी बनाकर उनके स्वामी कहलाने का गौरव-लाभ करें। क़िलों पर चढ़ाई करना छोड़कर वे स्त्रियों पर चढ़ाई करने लगे। वे इस बात को भूल गये कि स्त्रियाँ भी मनुष्य का हृदय रखती हैं और उनका हृदय पुरुष के हृदय से कहीं अधिक सुकुमार होता है। एक-एक आदमी अपनी वासना की पूर्ति के लिये बहुत-सी स्त्रियों

को घर में वरण करके रखने लगा। वे पशुओं की तरह तालों के भीतर परदे में बन्द करके रक्खी जाने लगीं। इन बातों का कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला। पराधीनता में विलासिता और भी फूलती-फलती है। एक पुरुष अनेक स्त्रियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उससमय की स्त्रियाँ अपनी वासना की पूर्ति के लिये अनेक पाप-लीलायें करने लगीं। समाज का वायु-मंडल दूषित होगया। भारतीय इतिहास के वे दिन रात के समान थे।

ऐसे दूषित वातावरण में पलनेवाले कवि भी विलासिता के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। वे लोग तो राज-दरबारों से भी अपना काफ़ी सम्बन्ध रखते थे। इसलिये आते-जाते उनको विलासिता के दो-चार बाहरी झोंके भी लग ही जाते थे।

हिन्दी के बहुसंख्यक कवि इसी विलासिता के कानन में पैदा हुये, फूले-फले और विकसित हुये। उनके लिये यह कैसे संभव हो सकता था कि वे समय की लहर से बचे रहते। उनपर भी ज़माने का रंग चढ़ ही गया। केवल थोड़े-से कवि ऐसे हुये जो पानी में कमल बनकर रहे; बाक़ी तो सभी उसमें डूब गये।

हिन्दी-कवियों में तो केवल एक तुलसीदास ही हुये हैं जो शृङ्गार-रस का अच्छा-से-अच्छा वर्णन कर ले गये हैं पर उसमें अश्लीलता या विलासिता की कोई भी भावना नहीं आने दी है। उनकी यह बड़ी भारी ख़ूबी है कि वर्णन करते-करते जहाँ वे ज़रा गहराई तक पहुँच जाते हैं और यह देखते हैं कि अब पाठक के मन में कुछ विकार पैदा होने की सम्भावना है, वहाँ तुरन्त 'जगत-जननि' या और इसीप्रकार का कोई शब्द या महावरा ला देते हैं जिससे मन की सारी मैल धुल जाती है। इतना ज़िम्मेदार कवि किसी भाषा में न मिलेगा। उनकी सीता

सर्वत्र कुल-वधू के रूप में मिलेंगी। उनके राम आदि से अंत तक संयमी बनकर ही रहे हैं। तुलसीदास के अतिरिक्त और कोई कवि शृङ्गार-रस की काजल की कोठरी में जाकर उसमें से साफ़-साफ़ बचकर नहीं निकल सका है। सूरदास तक स्थान-स्थान पर अश्लील होगये हैं। उन्होंने कृष्ण को स्थान-स्थान पर महा विलासी के रूप में पेंट किया है। सुबह उनके कृष्ण लम्बी-लम्बी डगें भरते हुये आते हैं तो उनकी गृहणी उनसे साफ़-साफ़ शब्दों में पूछती है कि आज 'कौन पर ढहे हौ ?' इसीतरह रास-लीला और चीर-हरण के प्रसङ्ग में भी सूर ने कृष्ण को एक बड़े विलासी के रूप में दिखाया है। एक स्थान पर वे नग्न नहाती हुई गोपियों के वस्त्रों को लेकर पेड़ पर बैठ जाते हैं और बहुत निर्लज्जतापूर्वक कहते हैं।—

'तबहिं देहुँ जल बाहर आवहु।
बाँह उठाइ अंग देखरावहु॥'

—सूरदास

कृष्ण को आधार मानकर हिन्दी-साहित्य में विलासिता-पूर्ण भावों का ख़ूब प्रचार किया गया। कृष्ण को विलासी के रूप में देखने का पहला प्रयत्न संभवतः संस्कृत-कवि जयदेव ने अपने 'गीत-गोविन्द' नामक मधुर काव्य में किया था। जयदेव ने देखा कि विलासिता मनुष्य को स्वभाव से ही प्रिय होती है और उस ज़माने में विलासिता ख़ूब फल-फूल रही थी, इसलिये उन्होंने कृष्ण के जीवन में विलासिता का रंग दिखाकर विलासी लोगों को कृष्ण की तरफ़ आकर्षित किया। संभवतः उनका उद्देश्य यह था कि इसी बहाने लोग कृष्ण को स्मरण करते रहें और प्राचीन मार्ग पर चलते रहें। हिन्दुओं का तो

यह सिद्धान्त ही है कि किसी भी बहाने ईश्वर का नाम लेने से मनुष्य को मुक्ति मिल जाती है। गणिका गणिका थी, पर सुग्गे को राम-राम पढ़ाते वक़्त वह मरी थी, इससे उसको मुक्ति मिल गई, क्योंकि उसने मरते समय राम का नाम लिया था। इसी-तरह अजामिल महापापी था, पर मरते समय उसने अपने लड़के नारायण का नाम लेकर उसको पुकारा था, इसलिये नारायण कहने से उसको मोक्ष मिल गया। भगवान ने समझा कि यह मेरा नाम लेकर मुझको ही पुकार रहा है। नाम-शक्ति का यह चमत्कार देखकर जयदेव ने भी शायद यह सोचा होगा कि किसी भी बहाने लोगों में कृष्ण को व्यापक बनाना चाहिये। इसीलिये उन्होंने 'गीत-गोविन्द' के प्रारंभ में लिखा है।—

'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो,
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकान्तपदावलिं,
शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥'

—गीतगोविन्द

जयदेव ने कृष्ण का चोला ही बदल दिया। उन्होंने योगीश्वर कृष्ण को 'रति-रण-धीरा' बना दिया। जयदेव के कृष्ण लोकोपकारी कार्यों को छोड़कर यमुना-तट-स्थित घने कुंजों में विलासिनी गोपियों की प्रतीक्षा में बेचैनी के दिन काटने लगे।—

'धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली।
गोपी पीन पयोधर मर्दन चञ्चल कर युग शाली॥'

—गीतगोविन्द

उन विलासी कृष्ण की वासना-पूर्ति के निमित्त रोज़ नई-

थी; फिर भी हवा लगती थी तो दीपक की लौ हिलने लगती थी। इसपर रहीम ने कल्पना भिड़ाई कि वह तो असल में स्त्री के कुचों का मर्दन करना चाहता है, पर हाथ न होने के कारण सिर धुनकर पछता रहा है।—

'दीपक हिये छिपाय, नवल वधू घर लै चली।
कर-विहीन पछिताय, कुच लखि निज सीसै धुनै ॥'

—रहीम

'कवि केशवदास बड़े रसिया' थे। उन्होंने साहित्य में विलासिता को खूब पाला-पोसा। उनके नायक भी ऐसे हैं कि उनके लोचन 'तीय-व्रत-मोचन' हैं। अर्थात्, उन लोचनों पर रीझकर पतिव्रता स्त्रियाँ भी अपने धर्म से डिग जाती हैं। उनके ईश्वर की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वे 'श्री कमला-कुच-कुंकुम-मंडन' की कला में 'पंडित' हैं। उनके कृष्ण के लिये रोज़ ताज़ा माल आता है। एक दिन दूती को बहुत ढूँढ़ने पर भी कोई बहुत बढ़िया लड़की नहीं मिली तो उसने एक को कृष्ण की सेवा में अर्पित करके कहा कि आज इससे अपना काम किसी तरह चला लो, कल मैं तुम्हें एक अच्छी क्वालिटी की चीज़ दूँगी।—

'आजु या सों हँसि-खेलि बोलि-चालि लेहु लाल,
कालि्ह एक बाल ल्याऊँ काम की कुमारी-सी।'

—केशव

इसीप्रकार केशव की एक दूती एक नायिका को बहँका रही है कि शरीर पर के सब कपड़े उतारकर अभिसार के लिये चलो; कपड़े पहनकर चलोगी तो शायद वे काँटों से कहीं उलझ

जायँ या जल्दी में चलने के कारण पैरों में लगकर फट जावें, या वर्षा के कारण भीग जायँ, या कीचड़ से ख़राब हो जायँ, अथवा यह भी हो सकता है कि वे हवा के लगने के कारण तुम्हारे शरीर पर से उड़ जायँ, जिससे तुमको लज्जा का अनुभव हो। इसलिये अभी से रेशम का सफ़ेद पिछौरा आदि उतारकर और लज्जा को तिलाञ्जलि देकर, केवल अंधकार का पर्दा डालकर चलो।—

'चलिये जू ओढ़ि पट तम ही को गाढ़ो तन,
पातरो पिछौरा सेत पाट को उतारिये।'
—कवि-प्रिया

ख़ैर, रहीम और केशव आदि को छोड़ दीजिये। ये लोग तो विलासिता के वातावरण में रहते ही थे। सूर और उनके बाद के कृष्ण-भक्त कवियों ने भी विलासिता के भावों का बहुत मगन होकर प्रचार किया है। रीति-काल में भी जो कृष्ण-भक्त कवि हुये उन्होंने भी कृष्ण के यशोगान के बहाने उनकी विलासिता की कथा जी-खोलकर कही है। इन भक्त कवियों की रचनाओं में भी प्रायः राधा-माधव की संभोग-लीला ही वर्णित है, और कुछ नहीं। इनके मुख से भी प्रायः वही बातें निकली हैं जो रीतिकाल के विलासी कवियों के मुख से निकली हैं। पर साधुओं के मुख से निकलने के कारण वे भगवद्भक्ति के अन्तर्गत आगई हैं और रसिक कवियों के मुख से निकलने के कारण वे ही बातें अश्लील मान ली गई हैं। ये भक्त कवि अपने उपास्य देव कृष्ण और माता-तुल्या राधा की काम-लीला गाते समय ज़रा-भर भी नहीं हिचकिचाये हैं और बेशर्मी के रास्ते पर बेधड़क क़दम बढ़ाते चले गये हैं।—

'राधे जू हारावलि टूटी ।

....

परमानन्द प्रभु सुरति समय रस मदन नृपति की लूटी ।'

—परमानन्ददास

जब साहित्य-गढ़ पर जयदेव के साहित्यिक पुत्रों का राज्य हुआ तो चारोंओर विलासिता के नदी-नद बह चले। इन लोगों ने कृष्ण को बिल्कुल एक बदमाश बना डाला। वे हज़ारों गोपियों के पंचायती पति होगये। गोपियाँ ब्याही तो किसी और को जाती थीं, पर मौक़ा पड़ने पर वे कृष्ण की स्थानापन्न पत्नी भी बन जाती थीं। उनका तो विश्वास था कि—

'बड़े भाग नँदलाल-सों झूठहु लगत कलंक।'

—मतिराम

हमारे रीति-कालीन कवि 'नीवी मोक्षो हि मोक्षः' का सिद्धान्त माननेवाले थे। इनकी कविता में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अक्षरशः पालन हुआ है। दूसरे की बहू को अपनी बहू मान लेना एक धर्म-सम्मत कार्य समझा गया है। इनकी रचनाओं में स्त्रियों की ख़ूब बेइज़्ज़ती की गई है। कहीं गेंद की चोरी का इलज़ाम लगाकर तलाशी लेने के बहाने उनके उरोज टटोले जारहे हैं, कहीं आँख-मिचौनी के खेल के बहाने उनके कपोल मर्दित किये जारहे हैं, कहीं 'साँकरी गली' में उनको धक्का देकर चलने के लिये मौक़ा ढूँढ़ा जारहा है। होली के दिन कृष्ण उनके मुँह में गुलाल लगाने के बहाने अपनी बहुत-सी मनोकामनायें पूरी कर लेते थे। कृष्ण उनकी ताक में पनघट पर बैठे रहते थे और उनके साथ ख़ूब छेड़ख़ानी करते थे।

अँधेरा होने पर वे उनको रास्ते में किसी तरह डरवा देते थे और फिर घर पहुँचाने के बहाने रास्ते में उनके गले में हाथ डाल कर चलते थे।

रीतिकालीन कवियों-द्वारा कल्पित स्त्रियाँ महा व्यभिचारिणी हैं। उनके लिये तो—'जैसे कंता घर रहे, तैसे गये विदेस।' वे तो लोक-लज्जा को भाड़ में झोंककर अपने प्रेमी से मिलने के लिये सहेट में जाती हैं। वे तरह-तरह के इशारे करने में प्रवीण हैं। प्रायः वे कुञ्जों में या नालों के खोहों में रातें बिताती हैं। अक्सर वे व्रज की अँधेरी और तंग गलियों में से होकर गुज़रती हैं जिससे किसी छलिया से आँखें लड़ाने का मौक़ा मिल जाय। कृष्ण की बाँसुरी की आवाज़ सुनकर अक्सर वे अपने पति और बच्चों को भी लात मारकर कृष्ण से मिलने के लिये चल पड़ती हैं। ऐसी विलासिता-प्रिय नायिकाओं के कुछ उदाहरण देखिये।

—एक स्त्री किसी व्यक्ति को लेकर अपने खेतों के पास खड़ी है और कहती है कि यह धान का खेत मेरा है और यह बाजड़े का खेत जो तुम देख रहे हो, यह भी मेरा ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस बाजड़े के खेत में हम लोग मनमानी काम-क्रीड़ा कर सकते हैं।—

'खेत निहारौ धान को, यौं बूझो मुसकाय।
इहौ हमारो है कह्यो, सघन ज्वार दरसाय॥'

—मतिराम

एक स्त्री को अपने देवर का विवाह अपने ऊपर वज्रपात-सा लगा क्योंकि उसने समझ लिया कि स्त्री के आजाने पर तो देवर

बातों का गूढ़ार्थ यह है कि इतने सुन्दर समय में अकेले मत सोओ—आओ तुम भी कुछ मज़ा लो और मेरे मनोरथ भी पूरे करो।—

'ननँद निनारी सासु मायके सिधारी, अहै
रैन अँधियारी भरी सूझत न करु है।
पीतम को गौन सुखदेव न सुहात भौन,
दारुन बहत पौन लाग्यो मेघ झरु है॥
सङ्ग ना सहेली, बैस नवल अकेली, तन
परी तलबेली महा लायो मैन सरु है।
भई अधरात, मेर्‌यो जियरा डेरात,
जागु-जागु रे बटोही! इहाँ चोरन को डरु है॥'

—सुखदेव मिश्र

इसीतरह बिहारी की नायिका है। वह और भी सांकेतिक भाषा में द्वार पर लेटे हुये पथिक से अपनी मनोकामना प्रकट करती है। वह कहती है कि तुम बाहर ही लेटना चाहते हो तो लेटो, पर ज़रा जगते रहना क्योंकि घर में कोई है नहीं, इसलिये चोरों का बड़ा डर है। अर्थात्, अच्छा हो कि अन्दर आकर मेरे पास लेटो।—

'जु पै द्वार में बसत तौ, पथिक जाइ जिन सोइ।
मेरो घर सूनो इहाँ, चोरनि को डर होइ॥

—बिहारी

एक अप्सरा-सी रूपवती स्त्री है। वह ब्रज की तंग गलियों में फूलों की सेज बिछाकर कामियों की प्रतीक्षा में छिपकर खड़ी रहती है।—

'ह्वै रही खरी है छरी फूल की छरी-सी छपि,
साँकरी गली में फूल-पाँखुरी बिछाइ कै ।'

—पद्माकर

एक स्त्री का जार बीसों नालों के पार कहीं छिपकर बैठता है। एक दिन स्त्री अनेक कष्ट उठाकर उनको पार करती हुई वहाँ पहुँची तो लाल महाशय कहीं चले गये थे, इससे उसको बड़ा कष्ट हुआ।—

'पगन में छाले परे, नाँघिबे को नाले परे,
तऊ लाल ! लाले परे रावरे दरस के ।'

—प्रेम-माधुरी

इसतरह शृंगारी कवियों ने स्त्रियों का ख़ूब पानी उतारा है। उन्होंने किसीको नहीं छोड़ा है। देवियों के स्थान पर उनके दिमाग़ में कामिनी स्त्रियाँ विराजती थीं। बेल-पत्र के स्थान पर वे बेल-बूटेदार साड़ियाँ पसन्द करने लगे थे। अपनी स्त्री से मिलने की अपेक्षा दूसरे की स्त्री से मिलने को वे ज़्यादा महत्त्व देते थे। योग की अपेक्षा वे पर-नारी-संयोग को अधिक फल-प्रद समझते थे। भले घर की स्त्रियों को वे खुले-आम यह उपदेश देते थे कि।—

'बलि झूलो झुलाओ झुको उझको,
यहि पाखैं पतिव्रत ताखैं धरौ ।'

—हरिश्चन्द्र

इन शृंगारी कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र रति-क्रीड़ा का खुले हुये शब्दों में वर्णन है। एक नहीं, एक हज़ार से भी अधिक ऐसी पंक्तियाँ हिन्दी-कविता में मिलेंगी, जिनमें संभोग-

शृंगार का अश्लील-से-अश्लील वर्णन मिलेगा। शृंगार-रस के ग्रंथों की तो बात जाने दीजिये, वीर-रस तक के ग्रंथों में ऐसे वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। जोधराज के हम्मीर-रासो में तो रासो-सूचक एक भी पद्य नहीं है। समस्त रचना में मुझे एक ही पद्य ऐसा मिला है, जिसे मैं कविता कह सकता हूँ। उसमें एक रति-क्रीड़ा का वर्णन है। और सारे ग्रंथ में कुछ हुई नहीं। वीर-रस के बहुसंख्यक नपुंसक पद्यों के बीच में केवल एक कविता-कामिनी है।

देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर तथा अन्य शृंगारी कवियों की कृतियों से ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ तथा पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें अश्लीलता नग्न होकर नृत्य करती हुई मिलेगी। इनकी रचनाओं में जहाँ देखिये, वहीं विपरीत रति का विधान रचा जारहा है; जहाँ देखिये वहीं स्त्री-पुरुषों में रति-युद्ध होरहा है।—

'रति बिपरीत रची दम्पति सप्रीति तहाँ,
झुकि-झुकि झूमि-झूमि कीरतिलली रमै।'

—विजयानन्द त्रिपाठी

'करत बिहार कहै 'देव' बार बार बार,
छूटि-छूटि जात हार टूटि-टूटि जात है।'

—देव

'एक ही संग इहाँ रपटे सखि,
वे भये ऊपर हौं भई नीचे।'

—पद्माकर

'भुज में कसी-सी, सिन्धु गंग ज्यों धँसी-सी,
जाकी सी-सी करिबे में सुधा सीसी-सी ढरकि जात।'

—अज्ञात

'मोहिं तुम्हैं यह अन्तर पारत,
हार उतारि उतै धरि राखौ।'
—ठाकुर

शृँगारी कवि तो हमेशा ही विलासिता के वायुमंडल में विचरण करते रहते थे। 'लपटाने दोऊ पट ताने परे'-जैसी समस्याओं में बहुत-से लोग उलझे हुये 'दिमाग़ी ऐयाशी' करते रहते थे। इन कवियों की दृष्टि में असली पति भी वही था जो हमेशा दुलहिन की ओर आँख गड़ाये रहता था और दोस्तों का संग-साथ छोड़कर रस में मस्त होकर घर ही में बैठा रहता था।—

'पाँव धरै दुलही जिहि ठौर,
रहै 'मतिराम' तहाँ दृग दीने।
छोड़ि सखान के साथ को खेलिबो,
बैठ रहै घर ही रस-भीने॥'
—रसराज

मैंने संक्षेप में साहित्य-नगर के इस वेश्याओं के मुहल्ले का भी थोड़ा हाल लिख दिया है। हिन्दी-कविता में इतनी अधिक विलासिता की गई है कि उसके विषय में कुछ न लिखना, जिज्ञासु पाठकों के साथ अन्याय करना होता। इसलिये मैंने अश्लीलता आदि के भय से मुक्त होकर विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इस विषय पर भी कुछ लिखा है। अश्लील होने के कारण सामाजिक दृष्टि से ये बातें त्याज्य होसकती हैं, पर साहित्यिक दृष्टि से तो ये अपनाई ही जायँगी। कोई भी साहित्य का विद्यार्थी इनको छोड़ नहीं सकता क्योंकि ये तो हिन्दी-साहित्य में उसे पद-पद पर मिलेंगी।

कुरुक्षेत्र के सारथी-योद्धा को इस नये रूप में लाकर कवियों ने इतना तो अवश्य ही किया है कि कृष्ण को हमारे अधिक निकट ला दिया है और हमारे जीवन को कृष्णमय कर दिया है। कवियों ने स्वयं डूबकर भी हमको उबारा है। वे उपेक्षा नहीं आदर के पात्र हैं।

हिन्दी-कविता में कलाबाज़ी

वास्तव में, हिन्दी में कला की अपेक्षा कलाबाज़ी प्रदर्शित करनेवाली कवितायें मात्रा में अधिक हैं। कलाबाज़ी दिखानेवाली कविताओं से हमारा अभिप्राय उन रचनाओं से है जो व्यर्थ के लिये चकाचौंध पैदा करती हैं। ये गोरखधन्धे की तरह होती हैं, जिनको खोलने में दिमाग़ को यथेष्ट परिश्रम करना पड़ता है। कविता का असली उद्देश्य दूर की चीज़ को नज़दीक लाना है, पर ऐसी कविताओं में नज़दीक की चीज़ें भी बहुत दूरी पर उठाकर फेंक दी गई हैं। हम तो बहुत गंभीरतापूर्वक विचार करने पर ऐसी रचनाओं को कविता मानने को भी तैयार नहीं हैं। इनको कविता मान लेना वैसा ही है जैसे किसी व्यक्ति को ख़ूब भड़कीले कपड़े पहने देखकर उसको राजा स्वीकार कर लेना। पर इनमें किसी-न-किसी रूप में कविता का कुछ अंश है, इसलिये इनको कविता की संज्ञा देनी ही पड़ती है। जिस औषधि में रसेन्द्र का कुछ मिश्रण रहता है, उसको रस कहना ही पड़ता है।

हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में तो केवल तुलसीदास ही हुये हैं जो कि कलाबाज़ी से दूर रहे हैं। बाक़ी तो सभी किसी-न-किसी अर्थ में कलाबाज़ थे। कबीरदास ने उल्टबाँसियों के रूप में ख़ूब कलाबाज़ी दिखाई है। उनकी अधिकांश उल्टबासियाँ बेसिर-पैर

की हैं और संभवतः जनता को इस भ्रम में डालने के लिये लिखी गई हैं कि लोग कबीर को महापंडित समझकर उनके मार्ग का अनुसरण करें। यों तो कबीर ही की तरह उलटी अक़्ल रखनेवाले लोग उनके कुछ-न-कुछ अर्थ निकाल ही लेते हैं, पर हमें तो वे बिल्कुल अर्थ-रहित जान पड़ती हैं। उनकी निम्न-लिखित उल्टवासियाँ देखिये।—

'एक अचंभा देखो रे माई।
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई॥
पहले पूत पीछे भइ माई।
चेला के गुर लागै पाईं॥
जल की मछरी तरवर ब्याइ।
पकरि बिलाई मुरगै खाइ॥
....
....
तलि करि साखा ऊपरि करि मूल।
बहुत भाँति जड़ लागे फूल॥
कहै कबीर या पद कौं बूझै।
ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै॥'

—कबीर

'बैल बिआइ गाइ भइ बाँझ।
बछरा दूहै तीन्यूं साँझ॥'

—कबीर

कबीर के पहले भी ख़ुसरो मियाँ ढकोसलों आदि के रूप में कलाबाज़ी के अच्छे खेल दिखा चुके थे।—

'भैंस चढ़ी बबूल पै, लपलप गूलर खाय।
दुम उठाकर देखा तो, पूरनमासी के तीन दिन ॥'
—ख़ुसरो

इन पंक्तियों का कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। ये महज़ बेकार बैठे हुये लोगों के मनोरंजन के लिये लिखी गई हैं। सूरदास ने अपने दृष्ट-कूट के पदों में ख़ूब कलाबाज़ी दिखाई है। पर एक बात है कि वे पद निरर्थक नहीं हैं। उनके गूढ़ार्थ परिश्रम करने पर समझ में आजाते हैं। 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' आदि की पहेली कुछ तकलीफ़ उठाने पर खुल जाती है। सूर की कलाबाज़ी का एक नमूना हम नीचे देते हैं। यों साधारण दृष्टि से देखने पर इसका अर्थ समझ में न आयेगा, पर ज़रा खोजबीन करने पर इसके भाव सहज ही में स्पष्ट होजायँगे।—

'कहत कत परदेसी की बात।
मन्दिर-अरध-अवधि[1] बदि हमसों हरि-अहार[2] चलि जात॥
ससि-रिपु बरष[3], सूर-रिपु युग[4] वर, हर-रिपु[5] किये फिरै घात।
मघ-पंचक[6] लै गये स्यामघन, आय बनी यह बात॥

१—मन्दिर = घर; घर का आधा भाग पाख कहलाता है; कृष्ण एक पाख अर्थात् एक पक्ष (पन्द्रह दिन) में लौट आने का वादा करके गये थे।

२—हरि = सिंह; सिंह का आहार मांस है; कृष्ण एक पक्ष का वादा करके गये थे, पर एक मास बीत गये।

३—ससि-रिपु = दिन; दिन वर्ष के समान बीतता है।

४—सूर-रिपु = रात; रात युग के समान होजाती है।

५—हर-रिपु = कामदेव।

६—मघ-पंचक = माघ से लेकर पाँचवाँ नक्षत्र; चित्रा,

नखत बेद ग्रह जोरि अर्ध करि[७], को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुम्हहिं मिलन को कर मीड़ति पछितात ॥'

—सूरदास

इसप्रकार के सूर के बहुत-से पद हैं, जिनमें बुद्धि का अच्छा चमत्कार दिखाया गया है। सूर के बाद केशवदास तो कलाबाज़ों के आचार्य ही होकर हिन्दी-काव्य-कानन में पधारे। उनके लिये किसी ने ठीक ही लिखा है कि वे 'कृत्रिमता के विश्वकर्मा' थे। केशव ने ख़ूब क्लिष्ट कविता की है। साधारण पाठकों की तो बात ही छोड़िये, अच्छे-अच्छे कवि भी कहीं-कहीं उनके भावों को समझने में हिम्मत हार जाते हैं। इसीलिये प्रसिद्ध है कि—

'कबि को देन न चहै बिदाई।
पूछै केसव की कबिताई॥'

—अज्ञात

अपनी कवि-प्रिया में इन्होंने बाजीगरी के अच्छे नमूने दिखाये हैं। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम उनमें से कुछ यहाँ पर उपस्थित करेंगे। कवि-प्रिया में ऐसे कई छंद उदाहरण-स्वरूप लिखे गये हैं जिनको पढ़ने में ओंठ एक दूसरे से छू ही नहीं जाते। एकाक्षर, द्वयाक्षर, त्रयाक्षर और चतुराक्षर शब्दों की सहायता से बहुत-से छन्द रचे गये हैं। एक अक्षर के शब्दों की सहायता से रचे गये एक पद्य को हम यहाँपर उद्धृत करते हैं।—

अर्थात् चित्त; कृष्ण चित्त को चुराकर लेगये।

७—नक्षत्र २७+वेद ४+ग्रह ९=४०; इसका आधा बीस हुआ। अर्थात् हम विष खाने जाती हैं।

'गो, गो, गं, गो, गी, अ, आ, श्री, ध्री, ह्री, भी, भा, न।
भू, ख, बि, स्व, सा, द्यौ, हि, हा, नौ, ना, सं, भं, मा, न ॥'

— कवि-प्रिया

इस पद्य का अर्थ भी है। इसीतरह एक अक्षर या दो अक्षर की सहायता से भी दोहे रचे गये हैं। नीचे के दोहे में सिर्फ़ 'ह' और 'र' अक्षरों का उपयोग हुआ है।—

'हरि हीरा राहै हरो, हेरि रही ही हारि।
रहि-रहि हौं हा हा ररौं, हरे हरे हरि रारि ॥'

कवि-प्रिया

एक दोहा और देखिये। इसमें आधा छंद एकाक्षरी है।—

'केकी केका कीकका, कोक कीक का कोक।
लोलि लालि लोलै लली, लाला लीला लोल ॥'

—कवि-प्रिया

अब केशव का एक गूढ़ोत्तर वर्णन देखिये। इसमें एक स्त्री का वर्णन है।—नई शादी हुई है, इसलिये पति के नये होने के कारण पत्नी के प्रति उसका प्रेम भी ख़ूब अधिक है। पति पराई स्त्री को भूलकर भी नहीं देखता। उसका रूप राजा के समान सुन्दर है और वह पृथ्वी पर अनुपम सौन्दर्यवाला है। वह हमेशा पत्नी के गुणों की प्रशंसा भी स्पष्ट शब्दों में करता रहता है। घर में सब प्रकार की सम्पत्ति भरी है। पति-पत्नी सुख के सिन्धु में पति-सहित लक्ष्मी की तरह विलास करते हैं। देवर देवता की तरह सुन्दर और सीधा है। वह स्त्री पुत्रवती भी है। इतने सुख के साधन मौजूद हैं फिर क्या कारण है जिससे वह सुन्दर दाँतोंवाली रोती रहती है?

इस प्रश्न का उत्तर जिस पद्य में स्त्री का यह वर्णन किया गया है उसीके अन्तिम दस अक्षरों में छिपा हुआ है।—

'नाह नयो नित नेह नयो पर-
नारि त्यों 'केसव' क्योंहू न जोवै।
रूप अनूपम भूपर भूप,
सो आनँद-रूप नहीं गुन गोवै॥
भौन-भरी सब सम्पति दम्पति,
श्री-पति ज्यों सुख-सिंधुन सोवै।
देव-सों देवर, प्रान-सों पूत,
सु कौन दसा सुदती जेहि रोवै?'

—कविप्रिया

सब अनुकूल होते हुये भी क्या दशा है जिससे सुदंति रोती है? उत्तर अन्तिम दस अक्षरों में है। 'नद-सासु दती जेहि रोवै'—नन्द और सास दती (लड़ती) रहती हैं, इसीसे वह नव-वधू रोती है।

अब केशव का प्रश्नोत्तर देखिये। इसमें प्रश्न के अक्षरों में ही उनके उत्तर छिपाकर रक्खे गये हैं।—

'को दंड-ग्राही सुभट? को कुमार रतिवंत?
को कहिये ससि तें दुखी? कोमल मन को? संत!'

—कविप्रिया

[प्रश्न—कौन वीर (सुभट) सबसे दंड (कर) वसूलने में सामर्थ्यवान् होता है?

उत्तर—कोदंड-ग्राही सुभट = वह वीर जो धनुर्धारी होता है, वही सबसे दंड-ग्रहण करने में समर्थ होता है।

प्रश्न—कौन कुमार रतिवंत (प्रेमी) होता है ?

उत्तर—जो कोकु (कोकशास्त्र) और मार (कामदेव) से प्रेम रखता है।

प्रश्न—चन्द्रमा से दुखी कौन होता है ?

उत्तर—कोक हिये ससि तें दुखी—चकवे का हृदय चन्द्रमा से दुखी होता है।

प्रश्न—हे सन्त ! कोमल मनवाला कौन होता है ?

उत्तर—सन्त कोमल मनवाला होता है।

मैंने तो ऊपर बहुत सरल उदाहरण लिये हैं। बहुत-से और भी पेंचदार पद्य हैं जिनको समझने के लिये बेकारी का वक्त और पागलों का दिमाग़ चाहिये। केशव ने कविता के साथ बड़े खेल खेले हैं। उनके कई पद्य ऐसे हैं जिनको सीधे-सीधे पढ़िये तो कुछ अर्थ निकलता है और उन्हीं को उलटकर पढ़िये तो कुछ और ही अर्थ निकलता है। उनका शब्द-संगठन ऐसा है कि वे दूसरी ओर से भी पढ़े जासकते हैं। इसीतरह का एक उदाहरण उन्होंने और पेश किया है जो उल्टा-सीधा बिलकुल एक-सा पढ़ा जाता है। एक ही पंक्ति को दोनों तरफ़ से पढ़ने से शब्द-योजना एक ही रहती है और अर्थ भी एक ही रहता है। उदाहरणार्थ नीचे का सवैया देखिये।—

'मा सम सोह सजै बन बीन,
नबीन बजै सह सोम समा।
मार लतानि बनावति सारि,
रिसाति बनावनि ताल रमा ॥
मानव हीरहि मोरद मोद
दमोदर मोहि रही बनमा।

नाल बनी बलि केसवदास,
सदा बस केलि बनी बलमा ॥'

—कविप्रिया

इसीतरह केशव ने गोमूत्रिका, अश्वगति, चरणगुप्त, कपाटबद्ध, चक्रबन्ध, कमलबन्ध, धनुषबन्ध, डमरूबंध, हारबन्ध, पर्वतबंध आदि अनेक चित्रालङ्कारों में अपने काव्य-कौशल की कलाबाज़ी दिखलाई है। सबके उदाहरण यहाँपर नहीं दिये जासकते। ये सब कलाबाज़ी के अन्तर्गत आते हैं। सबकी रचना में काफ़ी कारीगरी की गई है क्योंकि उनको भिन्न-भिन्न चित्रों के अनुरूप बनाना पड़ा है। शब्दों के चुनाव और उनके संगठन में बड़ा दिमाग़ ख़र्च किया गया है।

केशव के अतिरिक्त और भी बहुत-से कवि थे जो कलाबाज़ी दिखाने में बड़े उस्ताद थे। ये लोग तो गूढ़ार्थ रचनायें करके अहंकार-पूर्वक कहते थे कि मेरी रचना का कोई अर्थ करदे। गुरु गोविन्दसिंह की सभा में ५२ कवि-रत्न थे। उनमें चन्दन नाम का एक कवि था। चन्दन ने निम्नलिखित सवैया बनाकर लोगों को अभिमान-भरे शब्दों में कहा कि इसका अर्थ करो तो जान पड़े कि तुम लोगों के पास भी कुछ बुद्धि है।—

'नवसात तिये नवसात किये,
नवसात पिये नवसात पियाये।
नवसात रचे नवसात बचे,
नवसात पिया पर दाविक पाये॥
जीति कला नवसातन की,
नवसातन के मुख अंचर छाये।

मानहुँ मेघ के मंडल में,
कबि चन्दन चन्द कलेवर छाये ॥'

—चन्दन

कोई इसका अर्थ न लगा सका तो गुरु गोविन्दसिंह ने हुक्म दिया कि धन्नासिंह घास खोदनेवाले को बुला लाओ, वही इसका अर्थ करेगा। धन्नासिंह घसियारा आया और उसने इस पद्य का यह अर्थ किया कि सोलह वर्ष की स्त्री सोलह शृङ्गार करके सोलह महीने परदेश में बिताकर आनेवाले सोलह वर्ष की उम्र के प्रियतम से मिली। उसने सोलह घर की चौपड़ बिछाई और सोलह दाँव किये। पति ने सोलहो बाज़ी जीत ली। पति ने जब सोलहो बाज़ी जीत ली तो षोडशी ने अंचल से षोडश-कला-युक्त चन्द्रमा के समान अपना मुख लज्जा-वश ढँक लिया। चन्दन कवि कहता है कि ऐसा ज्ञात होने लगा मानों मेघमण्डल में चन्द्रमा ने अपना कलेवर बदल दिया।

रीतिकालीन कवि कलाबाज़ी के आगे कला को कुछ समझते ही न थे। उनके शब्दों की जगमगाहट में तो भाव ठोकर खाकर गिर पड़ता है। उनके रीति-ग्रन्थों में कलाबाज़ी ही कलाबाज़ी है। उनमें सच्ची कविता कम है। शब्दालङ्कारों में तो प्रायः कलाबाज़ी ही दिखाई गई है। दीनदयालगिरि ने अनुराग-बाग में सूर और केशव का अनुकरण करके कोरी कलाबाज़ी दिखलाई है। कोई कामिनी यदि प्रिय-प्रियोग से मलिन-मुख होकर रो रही है तो उसका वर्णन सीधे न करके इन्होंने इसप्रकार किया है।—

'कनक-लता पै सूखि रहे कंज कृपा-पुंज,
ताप बैठि खंजरीट मोती उगलत हैं।'

—अनुराग-बाग

ऐसी कविताओं में प्रायः शब्दों के करिश्मे दिखाये गये हैं। सेनापति ने अपनी श्लेषात्मक कविताओं में ख़ूब कलाबाज़ी की है। सेनापति ने कल्पना के क्षेत्र में भी कलाबाज़ी की अच्छी दौड़ दिखाई है। द्रौपदी के पुकारने पर श्रीवर (कृष्ण) ने कपड़ों का ढेर क्यों लगा दिया, इसके लिये सेनापति ने कल्पना भिड़ाई है कि रोते समय श्रीवर का नाम लेते वक़्त स्वभावतः द्रौपदी के मुख से श्रीवर के स्थान पर छीवर उच्चरित हुआ होगा, इसीलिये कृष्ण ने यह समझकर कि वह छीवर (मोटी छींट का कपड़ा) माँग रही है, उसके चारोंओर कपड़ा-ही-कपड़ा एकत्रित कर दिया।—

'रोवत मैं श्रीवर कहत कही छीवर, सु
मेरे जान यातैं चले छीवर उपटि के।'

—सेनापति

अन्य कवियों के कुछ साधारण शब्द-खेल देखिये। नीचे हम एक दोहा देते हैं। इसका यों साधारण अर्थ लीजिये तो यह होगा कि हनुमान ने जब राम को मार डाला तो सीता को बड़ी खुशी हुई और राक्षस रोते हुये इधर-उधर घूमने लगे कि हाय-हाय राम तो मारे गये।—

'हताराम कपि ने जबहिं, हरषी जनकसुताहु।
राक्षगगण रोवत फिरहिं, हाहाराम हताहु॥'

—अज्ञात

पर यदि इसका ऊपरवाला अर्थ लीजिये तो वह बिल्कुल उल्टा-सा लगेगा और हद से भी ज़्यादा अस्वाभाविक लगेगा। सारी पेंच 'हताराम' में है। हताराम का अर्थ बाटिका (अशोक-बाटिका) का उजाड़ना लगाइये तो सारा अर्थ स्पष्ट हो जायगा। 'हताराम' 'हत' (नष्ट करना) और 'आराम' (बाग़) के योग से बना है।

इसीतरह का एक और पद्य देखिये। इसका ऊपरी अर्थ तो यह जान पड़ता है कि वैद्य, चित्रकार, ज्योतिषी, हरकारा और कवि, इन सबको तो अवश्य ही नरक मिलेगा और लोगों को तो कभी-कभी ही मिलेगा।—

'वैद्य चितेरा ज्योतिषी,
हरकारा अरु कव्य।
इन्हैं बिशेषहि नरक है,
औरन को जब-तव्य॥'

—अज्ञात

यदि इसी पद्य के 'नरक' में से 'क' को अलग करके 'है' में मिला दीजिये तो इस पद्य का अर्थ तो बदल ही जाता है, साथ-ही-साथ वह नया अर्थ ठीक भी जँचने लगता है। तब इसका यह अर्थ हो जाता है कि इन लोगों को विशेष-रूप से मनुष्य (नर) समझना चाहिये, औरों को तो यों ही जब-तब।

इसतरह के बीसों उदाहरण उद्धृत किये जासकते हैं। एक और तरह का पद्य देखिये। इसमें एक अर्द्ध विराम अर्थ बदल देता है।—

'पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी ताहि ।
पीय निकट जाके, नहीं घाम चाँदनी ताहि ॥'
—अज्ञात

दोनों पंक्तियाँ बिल्कुल एक-सी हैं; सिर्फ़ यही भेद है कि पहली पंक्ति में कॉमा 'नहीं' के बाद है और दूसरी में 'नहीं' के पहले । पहली पंक्ति का यह अर्थ हुआ कि जिसका प्रियतम उसके पास नहीं है उसके लिये चाँदनी घाम की तरह लगती है । दूसरी पंक्ति का अर्थ यह हुआ कि जिसका प्रियतम उसके निकट है उसको चाँदनी घाम की तरह आतपदायिनी नहीं मालूम होती ।

अब भारतेन्दु की एक नई तरह की कलाबाज़ी देखिये ।—

'Gवहु Eस अCस बल, हरहु प्रजन की Pर ।
सरU यमुना गंग मैं, जबलौं थिर जग नीर ॥'
—हरिश्चन्द्र

हिन्दी-कविता में कलाबाज़ी के और उदाहरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने की आवश्यकता अब मैं नहीं समझता । वे स्वयं कलाबाज़ी के नमूने हिन्दी-कविता में पद-पद पर देख सकते हैं । हिन्दी-कविता की अवनति का एक मुख्य कारण यह भी है कि रीतिकाल के उत्तरार्द्ध-काल से लोग कलाबाज़ी ही को कविता समझने लगे । रीतिकाल में ख़ूब चमत्कार-पूर्ण समस्यायें दी जाती थीं, जिनकी पूर्ति ही असली कविता समझी जाती थी । धीरे-धीरे समस्या की पूर्ति करने की प्रथा चल पड़ी ।

जिसतरह कवि लोग कलाबाज़ी दिखाने के लिये अनेकार्थी पद्य लिखने लगे, उसीतरह पाठक भी उन पद्यों के अर्थ करने में

बाल की खाल खींचने लगे। साधारण पद्यों को देखकर भी वे शक करने लगे कि शायद इसका कोई गूढ़ अर्थ भी होगा। तुलसीदास की सीधी-सादी चौपाइयों में भी वे कलाबाज़ी की कल्पना करने लगे। उनकी चौपाइयों के खींचतान कर ऐसे-ऐसे अर्थ लगाये गये कि तुलसीदास ने उन चौपाइयों को लिखते समय स्वयं भी उस अर्थ की कल्पना न की रही होगी। एक साधारण-सा उदाहरण लीजिये।—

'कोसलेस दसरथ के जाये।
हम पितु बचन मानि बन आये॥'

—रामचरितमानस

यह उस समय का ज़िक्र है जब राम ऋष्यमूक पर्वत के पास खड़े थे और ब्राह्मण-वेष-धारी हनुमान उनसे उनका परिचय पूछ रहे थे। इसका साधारण-सा अर्थ यह है कि राम कह रहे हैं कि हम कोशल के राजा दशरथ के पुत्र हैं और पिता की आज्ञा से वन में आये हैं। पर लोग इसके और तरह के भी अर्थ करते हैं। इन दो पंक्तियों के आगे एक पंक्ति है जिसमें लिखा है कि जब राम ने अपना ऐसा परिचय दिया तो हनुमानजी उनको अपना प्रभु जानकर उनके चरणों पर गिर पड़े। हनुमानजी ने कैसे जाना कि राम प्रभु हैं, इसीको लेकर लोगों ने राम के उपरोक्त कथन का यह अर्थ किया है कि राम कह रहे हैं कि हम कौशलेश हैं, अर्थात् माया के स्वामी हैं; हमने ही दशों इन्द्रियों का या दशों दिशाओं का निर्माण किया है; हम संसार के पिता हैं; हमारी आज्ञा का पालन करो; तुम बनकर अर्थात् वेष बदलकर आये हो, यह मैं जानता हूँ।

उपरोक्त कविता स्वयं तो नहीं, पर उसका यह अर्थ ज़रूर कलाबाज़ी से भरा हुआ है। तुलसी की रचनाओं के ऐसे मन-गढ़न्त अर्थ सैकड़ों की संख्या में पेश किये जा सकते हैं। सबके लिये समय चाहिये, स्थान चाहिये और धैर्यवान् पाठक चाहिये। ईश्वर को धन्यवाद है कि 'सर समीप गिरजा गृह सोहा' से किसी ईसाई ने यह अर्थ नहीं निकाला कि राजा जनक ईसाई-धर्म के संरक्षक थे।

वास्तव में, हिन्दी-कविता में कला की अपेक्षा कलाबाज़ी अधिक देखने को मिलती है। हिन्दी का जन्म ऐसे समय में हुआ जबकि संस्कृत के अन्तिम दिनों में कविता में कलाबाज़ी दिखाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। हिन्दीवाले उससे बहुत प्रभावित हुये और हृदय में प्रवेश करने की अपेक्षा वे मस्तिष्क में प्रवेश करना अधिक सुसाध्य समझने लगे। 'सारंग'-जैसे अनेकार्थी शब्दों को लेकर उन्होंने ख़ूब पैंतरेबाज़ी दिखाई। पद्माकर आदि तो ऐसी रचनायें करके राजाओं को रिझा लेते थे और हज़ारों कमा लेते थे। उनके अतिशयोक्तिपूर्ण नखशिख-वर्णन, विरह-वर्णन और दान-वर्णन आदि सब कलाबाज़ी के अन्तर्गत आते हैं। कलाबाज़ी तो आजकल भी हिन्दी-कविता में ख़ूब दिखाई जाती है। ये 'निराला' आदि छायावादी कवि (?) कलाकार थोड़े ही हैं। ये तो शुद्ध अर्थ में कलाबाज़ हैं और पक्के कलाबाज़ हैं।

हिन्दी-कविता में भावापहरण

बादलों की तरह सज्जनों का लेना भी देने ही के लिये होता है। उसीतरह अच्छे कवियों का अपने पूर्ववर्त्ती कवियों के भावों का ग्रहण करना भी उस भाव को अधिक सरस बनाने के उद्देश्य से होता है। इसको अपहरण नहीं बल्कि पराये को अपना बना लेना माना जायगा। तुलसीदास ने यही किया है। उन्होंने संस्कृत के सैकड़ों ग्रंथों के भाव अपने रामचरितमानस में लिये हैं। पर उन्होंने प्रत्येक भाव में कुछ-न-कुछ अपनापन डालकर उसको अधिक चमका दिया है। बादलों की तरह उन्होंने समुद्र का खारा पानी लेकर उसको मीठा बना दिया है। हिन्दी के बहुत-से कवियों ने संस्कृत के कवियों से भाव उधार लिये हैं। तुलसी ने तो 'छओ शास्त्र सब ग्रंथन को रस' लिया ही है, सूर, केशव तथा रीतिकालीन कवियों ने तो संस्कृत के पद्यों का अक्षरश: अनुवाद तक कर दिया है। कभी-कभी तो एक ही संस्कृत-पद्य के भावों को कई कवियों ने ज्यों-के-त्यों दुह लिये हैं, इससे ऐसा ज्ञात होने लगा है कि एक ने दूसरे की चोरी की है। उदाहरणार्थ, रामचरितमानस और रामचन्द्रिका के नीचे के पद्यों को देखिये। इनको देखने से ऐसा ज्ञात होगा कि केशव ने तुलसी का माल चुराया है। पर बात ऐसी नहीं है। वास्तव में एक ही संस्कृत-पद्य को आधार मानकर दोनों

कवियों ने इन पद्यों में वर्णित स्थल का चित्र अंकित किया है।—

'आगे राम लखन पुनि पाछे।
मुनिवर वेष बिराजत काछे॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे।
ब्रह्म-जीव-बिच माया जैसे॥'

—रामचरितमानस

'राम आगे चले मध्य सीता चली।
बंधु पाछे भये सोभ सोभै भली॥
देखि देही सबै कोटिधा कै भनो।
जीव-जीवेश के बीच माया मनो॥'

—रामचन्द्रिका

इसतरह के सैकड़ों उदाहरण दिये जासकते हैं। पद्माकर का

'दूरिहु दूरि दुर्‌यो जो चहौ,
तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं।'

—जगद्विनोद

भाव-वाला सुप्रसिद्ध सवैया संस्कृत के निम्न-लिखित श्लोक का अक्षरशः अनुवाद है।—

क्षीर-सार मपहृत्य शंकया,
स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्त तामसे,
नन्दनन्दनकथंनलीयसे॥'

—अज्ञात

हमारे समय में बाबू मैथिलीशरणगुप्त ने संस्कृत के काव्यों को ख़ूब निचोड़ा है। उनका जयद्रथ-वध कहीं-कहीं तो

व्यास-कृत महाभारत के द्रोणपर्व का हिन्दी-अनुवाद-सा मालूम पड़ता है। उपमायें, उत्प्रेक्षायें आदि ज्यों-की-त्यों उसमें से लेली गई हैं। गुप्तजी के 'शकुन्तला' नामक काव्य के निम्न-लिखित पद्य के भाव की भवभूति के उत्तर-रामचरित नाटक की एक पंक्ति के भाव से तुलना कीजिये।—

'अरे हृदय, जो लता उखाड़ी जा चुकी।
और उपेक्षा-ताप कभी की पा चुकी॥
आशा क्यों कर रहा उसी के फूल की।
फल से पहले बात सोच तू मूल की॥'

—शकुन्तला

'लुनि चुकी जब कोमल वल्लरी,
तब सुभास प्रसूनन की कहाँ।'

—उत्तर-रामचरित नाटक
(सत्यनारायण-कृत अनुवाद)

इस निबन्ध में मैं इसतरह के उदाहरण नहीं दिखाना चाहता, क्योंकि इनकी संख्या बहुत अधिक है। दूसरे, ऐसे भावा-पहरण दूसरी भाषा के साहित्य से किये गये हैं, इसलिये कुछ अंशों तक क्षम्य हैं। मैं तो भर्तृहरि और सादी की रचनाओं में साम्य दिखा सकता हूँ। दोनों को पढ़ने पर ऐसा जान पड़ता है मानों एक ने दूसरे की नक़ल की है। इसीप्रकार गुलिस्ताँ और महाभारत के अनेक पद्यों में भयानक भाव-साम्य दिखाया जा सकता है। चाणक्य के कई श्लोक और शेख़सादी के कई शेर भावों में इतने मिलते-जुलते हैं कि उनको पढ़ने पर ज्ञात होता है जैसे एक-दूसरे को पढ़कर लिखे गये हैं। फिर, संस्कृत-हिन्दीवाले तो बाप-बेटे हैं। वे तो एक-दूसरे से निडर होकर भाव ले सकते हैं।

इस लेख में हम थोड़े- से ऐसे उदाहरण पाठकों के सामने उपस्थित करेंगे जिनमें हिन्दी के कवियों ने हिन्दी ही के कवियों के भाव चुराये हैं। ब्रजभाषा के काव्य-काल में ऐसी चोरी बहुत हुई है। ये भावापहरण बड़े-बड़े कवियों-द्वारा किये जाने के कारण अवश्य ही अक्षम्य समझे जायँगे।

१

सूरदास का एक पद देखिये।—

'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
की हरि हरषि इन्द्र हठि बरजे, कैधौं दादुर खाये सेषनि ॥
किधौं उन देसनि गवन गम छाड़े धरनि न बूँद प्रबेसनि।
चातक मोर कोकिला उहि बन बधिकन बधे बिसेषनि ॥
किधौं उहि देस बाल नहिं झूलति गावति सखी सुबेसनि।
सूरदास प्रभु पथिक न चालहिं कासौं कहौं सँदेसनि ॥'

—सूरदास

इसीके भाव को चुराकर आलम ने उसको एक कवित्त की कोठरी में बन्द करके उसमें अपना ताला लगा दिया है। आलम सूर के भावों को अधिक नहीं चमका सके हैं। वे तो सूर के निकट भी नहीं पहुँच सके हैं। सूर की अन्तिम दो पंक्तियों में जो मज़ा है, वह भी आलम अपने कवित्त में, नहीं ला सके हैं। विरहिणी सोचती है कि यदि उस देश में, जहाँ उसका परदेशी प्रियतम रहता है, बालायें सावन के हिंडोलों पर झूलती होतीं तो प्रवासी को वह दृश्य देखकर घर वापस आने की बेचैनी ज़रूर होती। वह सँदेशे भी नहीं भेज सकती क्योंकि पावस के इन सुखद दिनों में कोई घर से बाहर नहीं जाता; सब घरों को लौट आते हैं। कोई

बाहर जानेवाला निर्मोही मिलता ही नहीं, इससे वियोगिनी किसके द्वारा सँदेशा भेजे ? आलम का नक़ली कवित्त देखिये ।—

'कैधों मोर सोर तजि गये री अनत भाजि,
कैधों उत दादुर न बोलत हैं ऐ दई ।
कैधों पिक-चातक बधिक काहू मारि डारे,
कैधों बक-पाँति उत अंत-गति ह्वै गई ॥
आलम कहत आली अजहूँ न आये पिय,
कैधों उत रीति बिपरीति बिधि ने ठई ।
मदन महीप की दोहाई फिरिबें ते रही,
जूझि गये मेघ किधौं बीजुरी सती भई ॥'

—आलम

२

अब भूषण, देव और शेख़ के निम्नलिखित कवित्तों में भाव-साम्य देखिये । कोई नहीं कह सकता कि ये स्वतन्त्र-रूप से लिखे गये हैं ।—

'नैन जुग नैनन सों प्रथमै लरे हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरैं नहिं टेरे हैं ।
अड़ि-अड़ि पिलि-पिलि लरे हैं उरोज बीर,
देखो लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं ॥
पिय को चखायो स्वाद कैसो रतिसंगर को,
भये अंग-अंगनि तें केते मुठभेरे हैं ।
पाछे परे बारन को बाँधि कहै आलिन-सों,
'भूषन' सुभट येई पाछे परे मेरे हैं ॥'

—भूषण

'आगे धीर अधर पयोधर सधर जानि,
जोरावर जघन सघन लरे लचिकै।
बार-बार देति बकसीसैं जैतवारनि को,
बारनि को बाँधे जे पिछारे दुरे बचि कैं॥
उरुन दुकूल दै उरोजनि को फूलमाल,
ओठनि उठाये पान खाइ-खाइ पचि कै।
देव कहै आजु मनौ जीत्यो है अनङ्ग-रिपु,
पी के संग संगर सुरति रंग रचि कैं॥'

—देव

'रति-रन विषै जे रहे हैं पति-सनमुख,
तिन्हैं बकसीस बकसी हैं मैं बिहँसि कै।
करन को कंकन, उरोजन को चन्द्रहार,
कटि को सुकिंकिनी रही है कटि लसि कै॥'
शेख कहै आनन को आदर सों दीन्हों पान,
नैनन को काजर रह्यो है नैन बसि कै।
ऐरी बौरी बार ये रहे हैं पीठ पाछे याते,
बार-बार बाँधति हौं बार-बार कसि कै॥'

—शेख

भाव का अपहरण करने पर भी शेख बहुत कड़ी सज़ा पाने की अधिकारिणी नहीं है; क्योंकि उसकी कविता की भाषा उपरोक्त दोनों कवियों की कविताओं की भाषा से अधिक साफ़-सुथरी और नाज़-नख़रे से भरी हुई है।

३

केशवदास ने जिसप्रकार रामचन्द्रिका में राम-राज्य का वर्णन करते समय—

'कुटिल कटाक्ष, कठोर कुच,
एकै दुःख अदेय ।
द्विस्वभाव है श्लेष में,
ब्राह्मण-जाति अजेय ॥'

—केशव

आदि पद्य लिखकर आलंकारिक ढंग से राम-राज्य का वर्णन किया है, उसीप्रकार और उसी शैली में मतिराम ने बूँदी-वर्णन और भूषण ने शिवाजी-राज्य-वर्णन किया है। बहुत थोड़ा हेरफेर है।—

'चन्द्रमुखिन के भौंह जुग कुटिल, कठोर उरोज।
बानिनि सौं मन कौ जहाँ मारत एक मनोज ॥
जहाँ चित्त चोरी करै मधुर बदन-मुसकानि ।
रूप ठगत है दृगन कौं, और न दूजो जानि ॥'

—मतिराम

'चोरी रही मन में ठगोरी रूप ही मैं रही,
नाहीं तो रही है एक मानिनी के मान मैं।
केस में कुटिलताई नैन में चपलताई,
भौंह में बँकाई हीनताई कटियान मैं ॥
भूषन भनत पातसाही पातसाहन में,
तेरे सिवराज राज अदल जहान मैं।
कुच मैं कठोरताई रति में निलजताई,
छाँड़ि सब ठौर रही आइ अबलान मैं ॥'

—भूषण

४

मतिराम और भूषण की रचनाओं में तो यत्र-तत्र बहुत साम्य है; शब्द-शब्द मिल जाते हैं। बहु-संख्यक उदाहरणों में से एक लीजिये।—

'जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान॥'

—ललित-ललाम

'जहाँ एक उपमेय के, होत बहुत उपमान।
ताहि कहत मालोपमा, भूषन सुकवि सुजान॥'

—शिवराज-भूषण

५

जायसी का माँग-वर्णन देखिये।—

'बरनौं माँग सीस उपराहीं।
सेन्दुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं॥
बिन सेन्दुर अस जानहु दिया।
उजियर पंथ रैनि महँ किया॥
कंचन रेख कसौटी कसी।
जनु घन महँ दामिनि परगसी॥
सुरिज किरन जनु गगन बिसेखी।
जमुना माँझ सरसुती देखी॥
खाँडे धार रुधिर जनु भरा।
करवत लै बेनी पै धरा॥
तेहि पर पूरि धरे जो मोती।
जमुना माँझ गंग कै सोती॥'

—पद्मावत

इसी में के भावों को चुराकर पंडित नाथूराम शंकर शर्मा ने एक कवित्त लिख डाला है और उसके द्वारा काफ़ी यश भी अर्जित किया है। वह कवित्त यह है।—

'कज्जल की कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव की दुधारा है॥'

—शंकर

६

बिहारी और मतिराम के निम्नलिखित दोहों को साथ-साथ रखकर पढ़िये।—

'लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं॥'

—बिहारी

'मानत लाज लगाम नहिं, नैक न गहत मरोर।
होत लाल लखि बाल के, दृग-तुरंग मुँहजोर॥'

—मतिराम

७

अब सेनापति, मतिराम और बेनी-प्रवीन की एक-एक पंक्ति लीजिये।—

'नीके अनियारे अति चपल ढरारे प्यारे,
ज्यौं-ज्यौं मैं निहारे त्यौं-त्यौं खरौ ललचात है।'

—सेनापति

'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।'

—मतिराम

'ज्यों-ज्यों बिलोकिये जू प्रति अंगन,
त्यों-त्यों लगै अति सुन्दरताई।'

—बेनी

८

सेनापति का—

'तिरछे कटाछ गड़ि छाती में रहत हैं।'

—सेनापति

का भाव सूर के—

'अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो,
तिरछे ह्वै जु अड़े।'

—सूरदास

से लिया गया है। उसीप्रकार मतिराम का—

'रूप-भौन में जगमगै मनो दीप की जोति।'

—मतिराम

तुलसी की इस अर्द्धाली—

'छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई।'

— तुलसी

का दोहा-बद्ध रूप है।

९

मतिराम, देव और रतनाकर की निम्नलिखित पंक्तियों में भाव-साम्य देखिये। तीनों की पंक्तियों में यही भाव है कि खड़ी होकर देखती हुई स्त्रियों की आँखें ऐसी लगती हैं मानों बन्दनवार बाँधे गये हैं।—

'दृग-कमलन के द्वार में बाँधे बन्दनवार।'

—मतिराम

'सखियान के आनन-इन्दुन तें,
अँखियान की बन्दनवार तनी।'

—देव

'उन्नत अटारिनि पै, खिरकी-दुवारिनि पै,
मानों कञ्जपुंजन की तोरन तनाई है।'

—रतनाकर

१०

कबीर, मतिराम और पद्माकर की निम्नांकित लाइनों में भाव-प्रवाह की परीक्षा कीजिये। एक ही गोमती जौनपुर, सुलतानपुर और लखनऊ—तीनों शहरों में होकर बही है।—

'पीतम को पतियाँ लिखूँ जो कहुँ होय बिदेस।
तन में मन में नयन में ताको कहा सँदेस॥'

—कबीर

'उधो तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं जो बियोग होय स्याम को।'

—मतिराम

'नैनन बसे हैं, अंग-अंग हुलसे हैं, रोम-
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत है।

ऊधो वे गुबिन्द कोऊ और मथुरा में रहैं,
मेरे तो गुबिन्द मोंहि मोंहि में रहत हैं ॥'

—पद्माकर

११

रतनाकरजी-द्वारा की गई मतिराम के भावों की चोरी का एक उदाहरण देखिये।—

'धाये रतिमान अति आतुर गोपाल मिली,
बीच व्रजराज को गरज गजराज की।'

—मतिराम

'धाये उठि वार न उबारन मैं लाई रंच,
चंचला हू चकित रही है बेग साधे पै।
आवत बितुण्ड की पुकार मग आधैं मिली,
लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग आधे पै ॥'

—रतनाकर

मुख्य भाव तो रतनाकरजी ने ले ही लिया है। इसीप्रकार मतिराम की इस पंक्ति—

'मधुकर-कुल करिनीन के कपोलन ते,
उड़ि-उड़ि पियत पियूष उडुपति मैं।'

—मतिराम

का भाव रघुनाथ ने इसप्रकार हड़प लिया है।—

'अति ही बिलंद जहाँ चन्द में तें अमी चारु,
चूसत चकोर बैठे ऊपर मुड़ेरे के।'

—रघुनाथ

१२

हिन्दी के तीन सुप्रसिद्ध कवियों की निम्नलिखित पंक्तियों में भाव-साम्य देखिये।—

'जो देखै सो कहै नहिं, कहै सो देखै नाहिं ।
सुनै सो समुझावै नहीं, रसना दृग सरवन नाहिं ॥'

—कबीर

'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी ।'

—तुलसी

'नैनन के नहिं बैन, बैन के नैन नाहिं अब ।'

—नन्ददास

१३

बिहारी के इस दोहे—

'सनु सूक्यो, बीत्यो बनौ, ऊखौ लई उखारि ।
हरी-हरी अरहरि अजौं, धरि धरहरि जिय नारि ॥'

—बिहारी सतसई

को देखकर ही मतिराम ने यह दोहा रचा होगा ।—

'सूखी सुता पटेल की, सूखी ऊखनि पेखि ।
अब फूली-फूली फिरै, फूली अरहरि देखि ॥'

—मतिराम-सतसई

१४

सुप्रसिद्ध उर्दू कवि अकबर की निम्नलिखित पंक्ति—

'दिल से मिलते नहीं ये हाथ मिलानेवाले ।'

—अकबर

के भाव को हरिऔधजी ने अपने 'बोलचाल' में इस रूप में ढाल लिया है ।—

'जब न दिल मिल सका मिलाने से,
किसलिये हाथ तब मिलाते हैं ।'

—बोलचाल

१५

कबीर के निम्नलिखित दोहे—

'ऐसा कोई ना मिला जासे रहिये लाग ।
सब जग जलता देखिया अपनी-अपनी आग ।।'

—कबीर

को आजकल के एक नवयुवक कवि ने इसप्रकार से खड़ीबोली में परिवर्तित करके ज़बरदस्ती अपना बना लिया है ।—

'किससे लिपट जुड़ाता सबको ज्वाला में जलते देखा ।'

—दिनकर

मैं समझता हूँ कि भावापहरण के इतने उदाहरण काफ़ी हैं ! यों तो तुलसी और सूर के बहुत-से पद अक्षरशः मिलते हैं, पर हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि एक ने दूसरे की नक़ल की होगी । संभवतः उन पदों को लिपिबद्ध करनेवालों ने एक के पदों को दूसरे में मिला दिया है । पर ऊपर के उदाहरणों और ऐसे ही सैकड़ों उदाहरणों को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि इनके विषय में भी ऐसा ही हुआ होगा । इनमें तो साफ़ ही भावों का अपहरण किया गया है । इन कवियों में तुलसी की वह विशालता नहीं थी कि वे प्रतिभा-बल से पराये को भी अपना बना लेते । पराये को कवि लोग अपना किस प्रकार बनाते हैं, इसके दो-तीन उदाहरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ, जिससे भावापहरण का रूप स्पष्ट होजाय ।

मतिराम के 'नैनन में चाह करै बैनन में नहियाँ' के भाव को लेकर पद्माकर ने उसको इसप्रकार व्यक्त किया है ।—

'लाज बिराजि रही अँखियान में,
प्रान में कान्ह जुबान में नाहीं।'

—जगद्विनोद

पद्माकर का लज्जाशील नायिका का चित्र मतिरामवाले चित्र की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और मनोहर है। कबीर के इस दोहे—

तिनका कबहुँ न निन्दिये, जो पाँवन तर होय।
कबहूँ उड़ि आँखिन परै, पीर घनेरी होय॥'

—कबीर

को ध्यान में रखकर हरिऔधजी ने तिनके पर चौपदों में एक कविता लिखी है। उसमें भी यही भाव है, पर अन्त में जाकर इस भाव से भी सूक्ष्मतर एक भाव उन्होंने उसमें से निकाल लिया है। बहुत मूँठ वगैरह देने से ख़ूब परेशान करने के बाद जब किसी ढब से तिनका निकल गया तो समझ ने उस आदमी को, जो पहले घमंडों में भरकर ऐंठा हुआ खड़ा था, इसप्रकार ताने दिये।—

'ऐंठता तू किसलिये इतना रहा,
एक तिनका है बहुत तेरे लिये।'

—हरिऔध

कबीर के इस दोहे

'सेमर सुवना सेइया, दुई ढेढ़ि की आस।
ढेंड़ी फूटि चटाक दे, सुवना चला निरास॥'

—कबीर

के भाव को एक कवि ने अच्छी तरह खरादी हुई भाषा में और एक कलापूर्ण शैली में इसप्रकार व्यक्त किया है।—

'सुक ने कह्यो सँदेस, सेमर के पग लागियो।
पग न परै वहि देस, जब सुधि आवै फलन की ॥'

—अज्ञात

इन ऊपर के दो-तीन उद्धरणों को हम भावापहरण के अन्तर्गत नहीं ले सकते, क्योंकि इनमें तो मिट्टी से सोना बनाया गया है। ये पंक्तियाँ मौलिक न होते हुये भी मौलिक-जैसी लगती हैं। वास्तव में, हिन्दी-कविता में भावापहरण बहुत हुआ है। एक ऊँची बात किसीको सूझ गई है, तो उसको चुराने के लिये बीसों कवियों ने शब्दों की दाँव-पेंच लगाई है। रीति-काल के कवि तो ऐसा करते ही थे, आजकल के छायावादी तो इस विद्या में पूर्ण-रूप से विशारद होते हैं। तन्त्री का तार टूटने का भाव और इसीतरह के बीसों इने-गिने भाव, जो आजकल की छायावाद की कविता में प्रचलित हैं, रोज़ घिसे जाते हैं। सब एक ही भाव की तलैया में कूदते हैं। कोई लँगोट पहनकर कूदता है, कोई धोती पहनकर और कोई एकदम से कपड़े उतार कर, बस यही फ़रक है।

हिन्दी-कविता की आवश्यकतायें

हिन्दी-कविता अभी अपने रास्ते ही में है। कोई नहीं कह सकता कि अपनी पूर्ण अवस्था को प्राप्त होजाने पर वह किस रूप में होगी। ऐसी हालत में अभी इस बात की पूरी गुंजाइश है कि उसमें नई-नई बातों का प्रवेश किया जाय और उसके मार्ग को अधिक साफ़-सुथरा बनाकर उसको आगे बढ़ने का मौक़ा दिया जाय।

अब समय बहुत बदल गया है। देश और समाज कुछ-का-कुछ होगया है। अब वह समय चला गया जबकि कोई व्यक्ति जब परदेश के लिये चलने लगता था तो उसकी कामिनी उसको रोकने के उद्देश्य से ख़ाली घड़ा हाथ में लेकर रास्ते में खड़ी हो जाती थी और वह रुक जाता था। अब कवि लोग यदि ऐसे चित्रों की कल्पना करें तो फ़िज़ूल ही है कि—

'नागरी नवेली रूप आगरी अकेली रीती
गागरी लै ठाढ़ी भई बाट ही कै घाट मैं।'

—मतिराम

आजकल के ज़माने में 'लै कर बीन प्रबीन तिय, राग्यो राग मलार' तथा 'रहु रे बसन्त तोहिं पावस करति हौं' और 'पाहुनी चाहै चल्यो जबहीं, तबहीं हरि सामुहें छींकत आवें'-

जैसी सरस कल्पनायें हृदय पर चोट नहीं पहुँचा सकतीं, क्योंकि देश में रेलों आदि के आजाने से परदेश घर के अधिक निकट आगया है; इससे प्रिय-वियोग अधिक नहीं खलता। दूसरे, अब समाज में से शकुन आदि पर विश्वास करने की भावना भी उठ गई है; इससे ऐसे चित्र हृदय में अब विशेष स्थान नहीं पासकते। यह साफ़ बात सुनने और साफ़ बात कहने का ज़माना है।

अब दीपक पर पतंग के जलने का ज़माना बीत गया है। दीपक का प्रकाश अब बिजली के बल्ब-रूपी शीशमहल के भीतर बैठता है। पतंग उसपर अपनी बलि नहीं चढ़ा सकता। विज्ञान ने हमारे घरों में कब्ज़ा कर लिया है। इसलिये अब हमें भी ज़माने का रुख़ देखकर चलना होगा।

अब वे दिन गये जब देश ख़ूब धनी था और चारोंओर विलासिता की नदी बहती थी। अब अभिसारिकायें नदी-नाले पार करके प्रेमियों से मिलने नहीं जातीं। आज की प्रेमिका इतनी धनी नहीं होती कि वह अपने प्रेमी से मिलने जाने लगे तो रास्ते में 'भार' के डर से गहने निकाल-निकालकर फेंकती जाय ('भार डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि') और हंसों को हार में से मोतियाँ तोड़-तोड़कर चुगाती जाय ('राजहंसनि चुगावति मुकुतमाल तोरि-तोरि')। अब ऐसी स्त्रियाँ नहीं मिलतीं जिनके—

'बारन तें हीरा सेत सारी के किनारन तें,
हारन तें मुकता हजारन झरत जात।'

—पद्माकर

करके उसपर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ना है। जो बिजली की तरह चमककर क्षीण होजाय वह स्थायी साहित्य नहीं है। हिन्दी-कविता में स्थायी साहित्य की बड़ी ज़रूरत है। कविता उच्चकोटि की तभी होगी, जब वह हृदय-संभूत होगी। हम मस्तिष्क-संभूत कविता के काफ़ी तमाशे देख चुके हैं, अबतो हम हृदय-संभूत कविता के कोमल आघात से विह्वल होने का मज़ा लेना चाहते हैं। कविता स्थायी तभी होती है जब उसमें दार्शनिकता का कुछ मिश्रण रहता है। बिना दार्शनिकता के कविता एक असाधारण वस्तु न होकर साधारण वस्तु ही बनी रहती है। दार्शनिकता ही कविता को गुरुता प्रदान करती है। यह दार्शनिकता दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख करने से या ईश्वर का गुण-गान करने से ही नहीं आती। बालों के सफ़ेद होने से ही बुज़ुर्गी नहीं आती। बुज़ुर्गी तो कुछ और ही चीज़ है जो बालकों के मुख पर भी झलक सकती है। उसीतरह ईश्वर और आत्मा-परमात्मा का विवेचन कर देने से ही कविता में दार्शनिकता नहीं आजाती। दार्शनिकता तो सत्य की खोज में गहराई तक जाने पर मिलती है। यह ग़लत धारणा है कि दार्शनिकता मस्तिष्क से पैदा होती है, हृदय से नहीं, अतएव वह कविता के अनुकूल नहीं पड़ सकती। दार्शनिकता भावों की भी हो सकती है और विचारों की भी। भाव हृदय से निकलते हैं और विचार मस्तिष्क से। कविता में दार्शनिक भावों की आवश्यकता पड़ती है। हिन्दी में इसी दार्शनिक तत्त्व की कमी है। बिना इसके कविता में स्थायीपन नहीं आसकता। कविता-शरीर में यह प्राण की तरह मूल्यवान् वस्तु होती है। प्राचीन कवियों में तुलसी, सूर, कबीर और जायसी आदि कुछ कवियों की रचनाओं में दार्शनिकता की झाँकी

देखने को मिलती है, पर हिन्दी के नब्बे-प्रतिशत कवियों की रचनाओं में इसका सर्वथा अभाव है।

अब हिन्दी-कविता की परिधि को भी बढ़ाने की आवश्यकता है। इनी-गिनी उपमायें बहुत रगड़ी जाचुकी हैं। अब कपोल को गुलाब की तरह मानने की अपेक्षा उसको दहीबड़े की तरह मानना अधिक प्रिय लगेगा। आँखों के लिये कंज की उपमा की जगह कटहल के कोये की उपमा अधिक जँचेगी। मृणाल-जैसी बाँहों की अपेक्षा ककड़ी-जैसी बाँहें अब हृदय में अधिक स्थान पायेंगी। चन्द्रमा-जैसे न-जाने कितने ललाट हम कविता में देख चुके हैं। अब तो हम उसकी अपेक्षा ख़रबूज़े की फाँकी-जैसा ललाट देखना चाहते हैं। असल बात तो यह है कि हम यह सब भी नहीं देखना चाहते। हिन्दी-कविता-द्वारा हम बहिर्जगत् का सौन्दर्य ज़रूरत-से-ज़्यादा देख चुके हैं। अब हम अन्तर्जगत् का सौन्दर्य देखना चाहते हैं। वर्णनात्मक कविताओं के स्थान पर अब हम भावात्मक कवितायें चाहते हैं। अब हम आकाश की विशालता की ओर नहीं देखना चाहते। अब तो हम उसकी सूक्ष्मता का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। हिन्दी-कविता में खुला हुआ सौन्दर्य हम बहुत काफ़ी देख चुके हैं। अब तो हम हरएक चीज़ का छिपा हुआ और रहस्यमय सौन्दर्य देखना चाहते हैं। हमारी कविता में सूक्ष्मता और कला की आवश्यकता है। हमारे यहाँ कवियों में झूठे ज्ञान के प्रदर्शन की प्रवृति का अन्त होना चाहिये।

हिन्दी-कवियों को शुद्ध अर्थ में युगान्तरकारी कवि बनने का प्रयत्न करना चाहिये। कम-से-कम उनको अपने दिमाग़ों से यह ख़्याल तो निकाल ही देना चाहिये कि हर-एक कविता में 'युग'

शब्द ला देने से वे युगान्तरकारी मान लिये जायँगे। युगान्तर-कारी कवि की रचना में युग की पुकार बिना युग शब्द लाये ही ध्वनित होती है। हमारे कवियों को युग के साथ-साथ चलने की आवश्यकता है।

हिन्दी में अच्छे-अच्छे प्रबन्ध-काव्यों की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी में उच्चकोटि के प्रबन्ध-काव्यों की बड़ी कमी है। जो हैं भी उनमें से अधिकांश मौलिक नहीं हैं। वे सब रामायण, महाभारत या श्रीमद्भागवत की कथाओं पर आश्रित हैं। मौलिक प्रबन्ध-काव्यों की बड़ी कमी है। हिन्दी के अधि-कांश काव्यों में प्रबन्ध-पटुता की भी बड़ी कमी है। हमारे समय में श्रीमैथिलीशरणगुप्त ने कई प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं, पर उनमें से शायद एक 'किसान' ही मौलिक है। बाक़ी तो सभी पुरानी कथाओं के आधार पर लिखे गये हैं। दूसरे, गुप्तजी के अधिकांश काव्य शृंखलाबद्ध नहीं हैं। उनके साकेत में तो आठवें सर्ग के बाद प्रबन्धकाव्यत्व का बड़ा दुरुपयोग किया गया है। ज़रा-भर भी आत्म-संयम से काम नहीं लिया गया है। छायावादी कवि तो प्रबन्ध-काव्य लिखने का परिश्रम ही नहीं कर सकते। इतना परिश्रम करने पर तो उनकी हृत्तन्त्री के तार ही टूट जायँगे। हमारे यहाँ मुक्तक रचनायें बहुत हो चुकी हैं। अब प्रबन्ध-काव्यों के लिये पूरा क्षेत्र ख़ाली पड़ा है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि मुक्तक रचनाओं की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्यात्मक रचनायें साहित्य की अधिक स्थायी चीज़ें होती हैं।

आधुनिक साहित्य में प्रवाहित विचार-धाराओं को देखते हुये यह भी लिखना आवश्यक जान पड़ता है कि हमारी कविता में साहित्य और संस्कृति की एकता को बनाये रखना आवश्यक

है। हम हिन्दी-साहित्य में मधुशाला के रूप में किसी भी चीज़ का स्वागत नहीं कर सकते। छायावादवाले भी जिसतरह के विलायती विचारों का प्रचार साहित्य में कर रहे हैं, वे भी हमारे जीवन के इतने प्रतिकूल हैं कि हम उनको ग्रहण नहीं कर सकते। ऐसे लोगों के विषय में तो मुझे एक सज्जन का यह कथन बिल्कुल ठीक जान पड़ता है कि ये ऐसी गायें हैं जो चरती तो योरप में हैं और दूध हिन्दुस्तान में देती हैं। हम कविता में भारतीयता चाहते हैं।

हिन्दी-कविता में असली कविता की आवश्यकता है। गुप्तजी की लेक्चर देनेवाली शैली हम बिल्कुल नहीं पसन्द करते। गुप्तजी तो राहगीरों के कवि हैं। उन्होंने अपने विषय में बिल्कुल सच्ची सम्मति दी है कि—

'विफल जीवन व्यर्थ बहा-बहा,
सरस दो पद भी न हुये अहा।
कठिन है कविते! तव भूमि भी,
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा॥'

—साकेत

आपका श्रम आपके लिये तो ज़रूर सुख-सा रहा है, क्योंकि बहुत ज़्यादा लिखने के कारण आपको मुफ़्त ही में बहुत ज़्यादा यश मिल गया है।

समस्या-पूर्ति के रूप में ज़बर्दस्ती कविता करने की प्रणाली भी हमें पसन्द नहीं है। समस्याओं की तो यों भी बेक़द्री होने लगी है। एक सज्जन ने 'नहीं' समस्या की पूर्ति करते हुये लिखा था कि 'उतारि के मरिहों दुइ पनहीं।' हम तो समस्याओं की पूर्ति करने की प्रथा ही उठा देना चाहते हैं,

क्योंकि उससे कविता में बड़ी कृत्रिमता आजाती है। अब हमारे यहाँ हृदय से उद्गार-रूप में निकली हुई शुद्ध कविता की आवश्यकता है।

हिन्दी-कविता में भावों की शृंखला पर भी ध्यान रखने की ज़रूरत है। बहुत-से लोग तो भाव का ख़्याल किये बिना ही शब्द-पर-शब्द जोड़ते चले जाते हैं। छायावादी कवि तो यही करते हैं। मैंने सुना है कि स्वर्गीय रामचरित उपाध्याय ने भी एकबार छायावाद की कविता लिखने का प्रयत्न किया था। छायावाद का प्रचलित रूप देखकर उन्होंने छायावाद का यह अर्थ निकाला कि जिसमें कुछ चुने हुये ख़ास तरह के शब्दों का संगठन हो, वही छायावाद है। उपाध्यायजी ने छायावाद की कविता में प्रचलित होनेवाले थोड़े-से शब्दों का संग्रह करके उनकी सहायता से दो कवितायें लिख डालीं। उनका अर्थ वे स्वयं भी नहीं जानते थे; पर उनको विश्वास होगया कि वे छायावाद की कवितायें हैं। उन्होंने उन कविताओं को उठाकर हिन्दी की दो सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं में भेज दिया। वे अच्छे स्थानों में छप भी गईं। उपाध्यायजी को विश्वास होगया कि सम्पादकों ने उन रचनाओं का अर्थ ज़रूर समझ लिया होगा, तभी तो छापा है। मेरा यह सब लिखने से यह तात्पर्य है कि छायावादी कवि भावों की हत्या करके शब्द-जाल को जो महत्व देरहे हैं, उससे कविता का विशेष उपकार न होगा। छायावादी कवि ही नहीं, अन्य कवि भी शब्दों की योजना करके छन्द तो पूरा कर देते हैं, पर वे अपने भाव की शृंखला पर ध्यान नहीं देते। कुछ उदाहरण देखिये। एक कवि महाशय लिखते हैं।—

'डूबा प्राण-कंज उर-करुणा-सरोवर में,
मानस की पीर हुई द्रौपदी की चीर है।'

—कौशलेन्द्र राठौर

मानस में 'पीर' उठना एक स्वाभाविक बात है। 'पीर' उठने पर हृदय का करुणा से भर जाना भी एक स्वाभाविक बात है। मानस की पीर का द्रौपदी की चीर की तरह बढ़ना भी एक स्वाभाविक बात है, क्योंकि द्रौपदी की चीर के बढ़ने की बात सर्व-विदित है और सत्य है। मानस की पीर की उपमा द्रौपदी की चीर से दी जा सकती है। पर यह प्राण-कंज के करुणा-सरोवर में डूबनेवाली बात क्या है, यह हमारी समझ में नहीं आई। यहाँ तो नपुंसक को कामिनी व्याह दी गई है। बिल्कुल अस्वाभाविक बातें एक साथ जोड़ दी गई हैं। प्राण तो करुणा में डूब सकता है, पर कंज सरोवर में कभी नहीं डूब सकता। एक स्वाभाविक सत्य के साथ एक अस्वाभाविक कल्पना जोड़ दी गई है। इसका कोई भाव ही नहीं स्पष्ट होता।

एक और उदाहरण लीजिये। श्रीरामकुमार वर्मा की एक पंक्ति है।—

'इतना विस्तृत होने पर भी,
क्यों रोता है नभ का शरीर।'

—चित्ररेखा

यह नभ के शरीर के रोने की बात हमारी समझ में नहीं आई। आँखें रो सकती हैं; शरीर के रोने का तो कोई मुहावरा हमारे सुनने में आजतक नहीं आया। क्या कवि महाशय का यह तात्पर्य है कि शरीर से पसीने की बूँदें टपक रही हैं? दूसरे,

शरीर विशाल हो सकता है, वितृत नहीं। विस्तृत होने और रोने से क्या सम्बन्ध ?

गुप्तजी की एक पंक्ति लीजिये।—

'हँसते प्रथम जो पद्म हैं,
तम-पंक में फँसते वही।'

—भारत-भारती

आपका अभिप्राय तो लिखने का यह था कि जो हँसता है, उसको कभी-न-कभी रोना भी पड़ता है। पर आप अपने भाव को व्यक्त नहीं कर पाये हैं। कमल के प्रति अंधकार की उपमा कीचड़ से देकर कवि महाशय ख़ुद उसमें फँस गये हैं। कमल तो कीचड़ ही में खिलता है। रात में वह संकुचित हो जाता है। फिर उसके लिये तो तम और पंक दो भिन्न-भिन्न प्रकार की चीज़ें हुईं। यहाँ तो तम की उपमा पंक से दे दी गई है। बिल्कुल आँख मूँदकर अलंकार-योजना की गई है। इस पंक्ति का अर्थ ही नहीं स्पष्ट होता। इसीतरह गुप्तजी की एक पंक्ति और देखिये।—

'चित्तौर चम्पक ही रहा,
यद्यपि यवन अलि होगये।'

—भारत-भारती

इसका भी कोई मतलब नहीं निकलता। जब यवन जानते थे कि चित्तौर चम्पा है तो उन्होंने अलि के रूप में अपना चोला क्यों बदला ? इस प्रश्न का भारत-भारती-कार के पास कोई जवाब न होगा। यों तो भारत-भारती को मैं कविता की पुस्तक मानता ही नहीं, पर बहुत-से लोग उसको बहुत आदर की चीज़

मानते हैं, इससे मैंने उसीमें से कुछ उद्धरण दिये हैं। ऐसे उदाहरणों से गुप्तजी के सभी काव्य भरे पड़े हैं।

आधुनिक कविता में अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग से भाव की श्रृंखला किस प्रकार टूट जाती है, इसका एक अच्छा उदाहरण देखिये। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने 'स्वप्न' में लिखा है।—

'तब उर अन्तरवासी हरि की,
पदगति क्यों न श्रवण करता मन।'

—स्वप्न

पद-गति देखी जासकती है, सुनी नहीं जासकती। पद-ध्वनि सुनी जाती है। चाल सुनने की अभीतक कोई विद्या संसार के सम्मुख नहीं आई है। इसतरह के पचासों लापरवाही से किये गये शब्द-प्रयोग आजकल की हिन्दी-कविता में मिलेंगे। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि हिन्दी-कविता में इस बात की बड़ी ज़रूरत है कि भाव और भाषा का नाप-जोख ठीक-ठीक किया जाय। बच्चों की तरह यह न होना चाहिये कि कहना कुछ चाहे और मुँह से कुछ-का-कुछ निकल जाय। साहित्य के राज-मार्ग पर बहुत फूँक-फूँककर पैर रखने की ज़रूरत है।

अब अन्त में हम हिन्दी-कविता की भाषा के विषय में भी कुछ लिखना आवश्यक समझते हैं। आजकल हिन्दी-कविता में खड़ीबोली का राज है। खड़ीबोली को इतने दिन राज्य करते होगये, पर आजतक उसका रूप निर्धारित नहीं होसका। अभी-तक खड़ीबोली की परिभाषा ही नहीं बन पाई। खड़ीबोली का एक रूप तो वह है जो हरिऔधजी के प्रिय-प्रवास में देखने को

मिलता है। उसमें वह संस्कृत के शब्दों से सिर से पैर तक लदी हुई है। जैसे।—

'प्रफुल्लिता कोमल पल्लवांविता,
मनोज्ञता-मूर्ति नितान्त रंजिता।
वनस्थली थी मकरन्द-मोदिता,
अकीलिता कोकिल-काकलीमयी॥'

—प्रिय-प्रवास

'नाना भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता।
लीला-लोल कटाक्ष-पात-निपुणा, भ्रूभंगिमा पंडिता॥
वादित्रादि समोद वादन-परा आभूषणाभूषिता।
राधा थी सुमुखी विशालनयना आनन्द-आन्दोलिता॥'

—प्रिय-प्रवास

इन दोनों पद्यों को केवल 'थी' ही हिन्दी-कविता बनाये हुये है, अन्यथा ये दोनों संस्कृत की कवितायें होजातीं। अब इस भाषा को खड़ीबोली का रूप माना जाय, या गुप्तजी की खड़-खड़ाहट से भरी हुई और पद-पद पर चोला बदलनेवाली बोली को खड़ीबोली का रूप माना जाय। अथवा ठाकुर गोपालशरण सिंह और पण्डित रामनरेश त्रिपाठी-द्वारा प्रयुक्त भाषा को खड़ी-बोली का असली रूप माना जाय। स्वयं हरिऔधजी ने दो तरह की भाषा लिखी है। एक तो प्रिय-प्रवास की पेटेंट हरिऔधी बोली है, दूसरी उनके चौपदों में प्रयुक्त होनेवाली बोलचाल की बोली है। साहित्य के विद्यार्थी के लिये यह पता लगाना बहुत कठिन होजाता है कि खड़ी-बोली असल में है क्या बला। एक तरफ़ तो लोग खड़ीबोली के नाम से बिल्कुल संस्कृत लिखने

लगे हैं, दूसरी तरफ़ बिल्कुल बोलचाल की भाषा लिखने लगे हैं। अब बीच में लोग 'हिन्दुस्तानी' को कृष्ण और गोपियों के बीच में उद्धव मानकर ला रहे हैं। कुछ लोग दुनिया के इस सिरे पर खड़े हैं और कुछ लोग उस सिरे पर। इससे अच्छा तो हमें रहीम-द्वारा प्रस्तुत उन रचनाओं का रूप लगता है जिनमें आधी दूर तक संस्कृत का मज़ा है और आधी दूर तक हिन्दी का।—

'दृष्टातत्र विचित्रतां तरुलतां, मैं था गया बाग़ में।
काचित्तत्र कुरंग शाव नयना, गुल तोड़ती थी खड़ी॥
उन्नत भ्रू धनुषा कटाक्ष विशिखै, घायल किया था मुझे।
तत्सीदामि सदैव मोह जलधौ, हे दिलगुज़ारो शुकर॥'

—रहीम

असल में, भाषा की यह उपेक्षा साहित्य के लिये हितकर नहीं होरही है। साहित्य की नाव भाषा की आँधी में डगमगा रही है। भाषा को एक साहित्यिक रूप देने की बड़ी ज़रूरत है। वह रूप क्या हो, इस बात का निर्णय करने का यह उपयुक्त स्थान नहीं है। हम तो यही चाहते हैं कि भाषा के साथ अत्याचार न किया जाना चाहिये। हिन्दी की साहित्यिक भाषा को साहित्यिक ही बनी रहने देना चाहिये। हिन्दी की साहित्यिक भाषा में उर्दू शब्दों को ठूँसने का जो प्रयत्न किया जारहा है, उसका प्रभाव साहित्य के लिये बहुत अनिष्टकर होगा। ऐसा करने से कविता की सहज स्वाभाविकता और उसकी मिठास जाती रहेगी। कविता में संस्कृत और हिन्दी का मेल बनाये रखने से ही उसकी शोभा और श्री क़ायम रह सकेगी। हिन्दी-कविता में उर्दू-फ़ारसी के शब्द कैसे लगते हैं, इसके दो-एक उदाहरण देखिये।—

'यह संसार अपार पाप का बृहत् कारखाना है।'

—पथिक

'उसके अपार शोभा-सिन्धु में समाता वह,
और बार-बार वहीं गोता वह खाता है।'

—माधवी

उपरोक्त दोनों पंक्तियों में संस्कृत-प्रधान हिन्दी-शब्दों के बीच में उर्दू की शब्दावली उसीतरह लगती है, जैसे ब्राह्मण के वर में चाण्डाल-कन्या।

अब हिन्दी-कविता की आवश्यकताओं पर मैं और कुछ न लिखूँगा। हमारे कवियों को बहुत साधना के साथ कवितादेवी का आह्वान् करना चाहिये। उनका यह भ्रम अपने मन से निकाल देना चाहिये कि आजकल की थर्ड-क्लास की बाज़ारू पत्र-पत्रिकाओं में छप जाने से ही किसी रचना की उत्तमता प्रमाणित होजाती है। आत्म-सन्तोष ही कविता की सबसे सच्ची कसौटी है। आजकल की पत्र-पत्रिकाओं में लिखने को तो मैं साहित्यिक वेश्यागमन समझता हूँ। साहित्य-सेवियों को बहुत संयम और सद्विचार के साथ कविता के क्षेत्र में आना चाहिये। उनमें बुद्धि की अपेक्षा प्रतिभा अधिक होनी चाहिये; यश-लोभ की भावना की अपेक्षा यश-त्याग की भावना अधिक होनी चाहिये और निर्माण करने की अपेक्षा संग्रह करने की प्रवृत्ति अधिक होनी चाहिये। तभी हिन्दी-कविता का सच्चा विकास हो सकेगा और तभी हिन्दी-मन्दिर का ठीक-ठीक निर्माण भी हो सकेगा।